

दिल्ली लौह-स्तंभ

प्राचीन भारतीय धातुशिल्प का चमत्कार

दिल्ली लौह-स्तंभ

प्राचीन भारतीय धातुशिल्प का चमत्कार

तं. रा. अनंतरमण

हिंदी रूपांतरण : राम प्रसाद एवं रामनिवास आर्य



विज्ञान प्रसार

प्रकाशक

विज्ञान प्रसार

सी-24, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया

नई दिल्ली-110 016

पंजीकृत कार्यालय : टेक्नोलॉजी भवन, नई दिल्ली-110 016

फोन : 6967532

फैक्स : 6965986

इंटरनेट : <http://www.vigyanprasar.com>

ई-मेल : vigyan@hub.nic.in

दिल्ली लौह-स्तंभ

प्राचीन भारतीय धातुशिल्प का चमत्कार

(Hindi version of The Rustless Wonder : A Study of the Iron Pillar at Delhi)

लेखक : त. रा. अनंतरमण

संपादन : नरेन्द्र सहगल एवं सुबोध महंती

अनुवादक : राम प्रसाद एवं रामनिवास आर्य

शब्द-संसाधन एवं पृष्ठ-संयोजन : कु. मंदाकिनी मुळे

© विज्ञान प्रसार

मूल अंग्रेजी संस्करण, 1996

प्रथम हिंदी संस्करण, 1999

ISBN 81-7480-044-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना पुस्तक
के किसी अंश का पुनः प्रकाशन अथवा फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग
या किसी अन्य तरीके से पुनः प्रयोग
नहीं किया जा सकता।

मुद्रक : रैम्पो प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, सी-95, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया,
फेज-1, नई दिल्ली-110 020, फोन : 6814886, 6816282

मूल्य : 150 रुपए

निस्संदेह, प्राचीन भारत ने लौहकर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति कर ली थी। दिल्ली के समीप का लौह-स्तंभ आधुनिक वैज्ञानिकों को भी आश्चर्यचकित कर रहा है। वे इसके निर्माण की उस विशेष पद्धति को समझ नहीं पा रहे हैं जिसके कारण यह स्तंभ आक्सीकरण व पर्यावरण के अन्य प्रभावों से बचा हुआ है।

—जवाहरलाल नेहरू (1889-1964)

भारत की खोज

विषय-सूची

वित्र-सूची	:	ix
प्लट-सूची	:	x
सारणी-सूची	:	xi
प्राककथन	:	xiii
प्रस्तावना (अनुवादक)	:	xv
विज्ञान प्रसार – एक परिचय	:	xvii
भूमिका	:	1
प्रथम अध्याय – तथ्य एवं आंकड़े	:	10
स्तंभ का विवरण	:	12
स्तंभ से संबंधित आधुनिक आंकड़े	:	18
प्रचलित किंवदंतियां	:	23
द्वितीय अध्याय – अभिलेख	:	26
राजा चंद्र से संबंधित अभिलेख	:	28
अभिलेख में पाठांतर	:	29
अन्य अभिलेख	:	31
तृतीय अध्याय – इतिहास और पुरातत्व	:	39
पुरालिपि के प्रमाण	:	41
राजा की विजयों के प्रमाण	:	43
लौह-स्तंभ की अद्वितीयता	:	46
चतुर्थ अध्याय – लौह प्रौद्योगिकी का विकास	:	49
अयस्क से लौह-निष्कर्षण	:	52
धमन-भट्टी क्रांति	:	57
प्राचीन भारत में लौह प्रौद्योगिकी	:	62
विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में लौह वस्तुएं	:	64
स्वदेशी लौह तकनीकी की प्रगति	:	69
लोहे की भौतिक धातुकी : संक्षिप्त सर्वेक्षण	:	72

पांचवां अध्याय – निर्माण-विधि	:	77
वैज्ञानिक प्रेक्षण	:	77
स्तंभ-निर्माण	:	78
भारतीय अध्ययन	:	80
छठा अध्याय – संक्षारण प्रतिरोध	:	84
लौह और इस्पात का संक्षारण	:	86
संक्षारण की रोकथाम	:	94
स्तंभ की वर्तमान स्थिति	:	96
संक्षारण प्रतिरोध के कारण	:	98
उपसंहार	:	109
संदर्भिका – कालक्रमानुसार	:	115
संदर्भिका – वर्णक्रमानुसार	:	122
हिंदी – अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द	:	129
अनुक्रमणिका	:	132

चित्र-सूची

1. तत्वों की आवर्त सारणी	:	2
2. लौह-स्तंभ एवं उसके परिमाप	:	21
3. ऊंचाई के साथ स्तंभ के व्यास में विभिन्नता	:	22
4. लौह-स्तंभ का मुख्य अभिलेख	:	30
5. मुख्य अभिलेख – आरंभिक पाठ	:	32
6. मेहरोली प्रशस्ति का गोयल का पाठ और उसका रोमन में लिप्यंतरण	:	37
7. प्राचीन काल में धातुकर्म की क्रमिक प्रगति का चार्ट	:	58
8. सोलहवीं शताब्दी में लौह फोर्जनः एक कलाकार की दृष्टि में	:	60
9. आधुनिक धमन-भट्टी की विशेषताएं तथा परिमाप	:	61
10. भारतीय उपमहाद्वीप के उन पुरास्थलों का नक्शा जहां लौहयुग की वस्तुएं मिली हैं	:	63
11. भारत में लौह प्रौद्योगिकी के विकासक्रम से संबंधित लौहयुग के स्थलों की रेडियो-कार्बन तिथियां	:	65
12. नयकुंड (700 ई.पू.) से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर पुनर्निर्मित महापाषाणकालीन लौह-गलन भट्टी	:	68
13. लौह-स्तंभ का फोर्जनः एक कलाकार की दृष्टि में	:	81
14. संक्षारित हो रही लौह-सतह पर कैथोडी व एनोडी स्थलों के बीच विद्युत-रासायनिक सेल की स्थापना	:	88
15. दिल्ली की जलवायु से संबंधित आरेख	:	100

प्लेट-सूची

1. लौह-स्तंभ और उसके आसपास मंदिर के अवशेष	:	13
2. कुतुब मीनार और लौह-स्तंभ	:	15
3. लौह-स्तंभ का शीर्षयुक्त ऊपरी भाग	:	33
4. लौह-स्तंभ तथा प्रशंसक पर्यटक	:	35
5. अभिलेख की सुरक्षित स्थिति को प्रदर्शित करती स्तंभ की सतह	:	53
6. सन् 1903 में स्तंभ के निकट स्थापित शिलापट्ट पर मूल संस्कृत लेख का अंग्रेजी अनुवाद	:	55
7. स्तंभ के निकट के एक क्षतिग्रस्त मूर्तिशिल्प पर शयनावस्था में भगवान विष्णु की प्रतिमा	:	73
8. स्तंभ के कंदाकार आधार पर संक्षारण-प्रभाव तथा घन-फोर्जन की रेखाएं	:	89
9. पर्यटकों से धिरा लौह-स्तंभ – दैनंदिन दृश्य	:	101

सारणी-सूची

1. वर्ष 1991 के इस्पात उत्पादन के आंकड़े	:	8
2. मंच के ऊपर की विभिन्न ऊंचाइयों पर स्तंभ का व्यास	:	20
3. स्तंभ के निचले भाग की धातु का रासायनिक विश्लेषण	:	24
4. प्रसिद्ध गुप्त राजाओं की वंशावली	:	27
5. कुछ धातुओं के गलनांक	:	51
6. प्राचीन भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त औजार	:	67
7. लौह प्रौद्योगिकी के विकास के तीन चरणों में प्रयुक्त औजार व उपकरण	:	70-71
8. वातावरण में लौह व इस्पात की संक्षारण-दर	:	91
9. समुद्री जल में धातुओं व मिश्रधातुओं की गैल्वेनी शृंखला	:	94
10. स्तंभ का औसत रासायनिक संघटन	:	103

प्राक्कथन

भारत की वैज्ञानिक धरोहर पर विज्ञान प्रसार की मोनोग्राफ शृंखला का प्रारंभ करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष हो रहा है। मेरे लिए यह गौरव की बात है कि यह मोनोग्राफ दक्षिण दिल्ली में मेहरोली स्थित लौह-स्तंभ के बारे में मेरे विस्तृत अध्ययन पर आधारित है। पर्यटकों का आकर्षण केंद्र यह प्रसिद्ध स्मारक विज्ञान प्रसार के कार्यालय के समीप ही स्थित है। विश्व भर में इसे प्राचीन भारत की प्रमुख तकनीकी उपलब्धि माना जाता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह उस प्रौद्योगिकी की एक महानतम सफलता है।

इस मोनोग्राफ की भूमिका तथा पहले दो अध्यायों में धात्तिक दृष्टिकोण से विषय की विवेचना की गई है। इनमें स्तंभ के बारे में तथ्यों, आंकड़ों तथा उस पर उत्कीर्ण अभिलेख का, विशेषतः प्राचीनतम संस्कृत अभिलेख का, वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में इसके ऐतिहासिक व पुरातात्त्विक पहलुओं की चर्चा की गई है। चौथे अध्याय में लौह प्रौद्योगिकी के विकास तथा पांचवें में इस विशाल स्मारक के निर्माण में प्रयुक्त विशिष्ट निर्माण तकनीकी का वर्णन है। यद्यपि पंद्रह सौ वर्षों से अधिक समय से यह स्तंभ धूप और हवा के झोकों के बीच खड़ा है, तथापि संक्षारण-प्रतिरोध आश्चर्यजनक है। छठे अध्याय में इसी विशेषता पर प्रकाश डाला गया है। उपसंहार में इस अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। अब इस स्तंभ से संबंधित लगभग सभी रहस्यों की जानकारी हो चुकी है।

भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के भूतपूर्व सचिव तथा संप्रति परमाणु ऊर्जा नियामक बोर्ड (Atomic Energy Regulatory Board) के अध्यक्ष डा. पी. रामाराव ने पांडुलिपि का गहन अध्ययन किया है तथा कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मैं विज्ञान प्रसार के निदेशक डा. नरेन्द्र सहगल तथा प्रकाशनाध्यक्ष एवं संपादक डा. सुबोध महंती के प्रति भी विशेष आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिनकी रुचि, सहायता व सहयोग के कारण नई शृंखला का यह पहला मोनोग्राफ प्रकाशित हुआ है।

नई दिल्ली

जुलाई 10, 1996

तं. रा. अनंतरमण

प्रस्तावना

विज्ञान प्रसार भारतीय जनमानस में वैज्ञानिक चेतना जगाने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। जनसंधारण को भारत की प्राचीन वैज्ञानिक धरोहर से संबंधित प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध कराने की दृष्टि से मोनोग्राफ शृंखला का प्रकाशन शुरू करके इस संस्था ने अत्यंत सराहनीय कार्य किया है। इस शृंखला की पहली अंग्रेजी पुस्तक The Rustless Wonder - A Study of Iron Pillar at Delhi भारत के विख्यात धातुविद् प्रो. तं. रा. अनंतरमण द्वारा लिखी गई है। संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि ऐसी पुस्तकें देश के हर भाषाभाषी तक पहुंच सकें। राष्ट्रभाषा हिंदी में इस पुस्तक की उपलब्धता प्राचीन भारतीय धातुशिल्प के इस चमत्कारी लौह-स्तंभ से संबंधित जानकारी देश के अधिकांश लोगों तक पहुंचाने में सहायक सिद्ध होगी।

भारतीय वैज्ञानिक धरोहर की इस महत्वपूर्ण पुस्तक के हिंदी रूपांतरण का उत्तरदायित हमें सौंपने के लिए हम विज्ञान प्रसार, विशेषकर डा. नरेन्द्र सहगल एवं डा. सुबोध महंती के आभारी हैं। पुस्तक के इस रूपांतरण-कार्य में शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद पर बल दिया गया है। जहां तक संभव हो सका है, सरल, मानक एवं स्थापित तकनीकी शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। इसके साथ ही पुस्तक के अंत में हिंदी-अंग्रेजी शब्दावली भी दी गई है। इस मोनोग्राफ में विभिन्न स्थानों पर उल्लिखित संस्थाओं तथा पुस्तकों आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को, अधिकतर, ज्यों का त्यों रखा गया है, ताकि पाठक को संदर्भ समझने में सुविधा रहे।

पुस्तक के हिंदी रूपांतरण-कार्य की अनुमति के लिए हम भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, परमाणु ऊर्जा विभाग के कृतज्ञ हैं। निरंतर प्रोत्साहन और उपयोगी सुझावों के लिए हम डा. चिरंजीव कुमार गुप्ता, निदेशक, पदार्थ वर्ग, डा. श्रीकुमार बैनर्जी, सहनिदेशक, पदार्थ वर्ग, डा. अशोक कुमार सूरी, अध्यक्ष, पदार्थ संसाधन प्रभाग एवं डा. शिव प्रकाश गर्ग, अध्यक्ष, उच्च ताप संसाधन अनुभाग के अभारी हैं। पांडुलिपि तैयार करने में संपूर्ण सहयोग के लिए हम श्री हरी औंकार पाटील, श्रीमती

संगीता जलगांवकर एवं श्री प्रवीण खेडकर का धन्यवाद करते हैं।

हमारे इस प्रयास की सफलता का निर्धारण तो पाठकवृद्ध ही कर सकते हैं। हम यह आशा अवश्य करते हैं कि इस प्रकार की पुस्तकें भारत की अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित होंगी, ताकि प्रत्येक भारतीय अपनी समृद्ध वैज्ञानिक संस्कृति पर गौरव कर सके।

राम प्रसाद

अध्यक्ष, सिरामिक तकनीकी अनुभाग

पदार्थ संसाधन प्रभाग

भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र

मुंबई – 400 085

राम निवास आर्य

अध्यक्ष, अभिकल्पन एवं निर्माण अनुभाग

पदार्थ विज्ञान प्रभाग

भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र

मुंबई – 400 085

विज्ञान प्रसार – एक परिचय

विज्ञान प्रसार की स्थापना, विज्ञान को जन-मानस तक पहुंचाने के उद्देश्य से सन् 1989 में एक स्वायत्त पंजीकृत संस्था के रूप में, भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा की गई थी। इसके मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :

- विज्ञान को लोकप्रिय बनाने, जनसाधारण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण जागृत करने तथा समाज के सभी वर्गों में विज्ञान व प्रौद्योगिकी के प्रति रुचि व जानकारी बढ़ाने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों की सहायता करना तथा संयोजन व निर्देशन करना।
- वैज्ञानिक व तकनीकी जानकारी के आदान-प्रदान के लिए विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानों, शिक्षण संस्थाओं, प्रयोगशालाओं, संग्रहालयों तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक संस्थाओं के बीच तालमेल स्थापित करना।
- जटिल वैज्ञानिक सिद्धांतों तथा प्रक्रियाओं को जनसाधारण तक सरल रूप में पहुंचाने के लिए श्रव्य, दृश्य तथा मुद्रित सामग्री तैयार करना।
- संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्यशालाओं/सेमिनारों/संगोष्ठियों, मेलों, प्रदर्शनियों, फिल्मों, प्रश्नमंचों तथा अन्य शिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करना।

विज्ञान प्रसार की गतिविधियों में सन् 1994 में तेजी आई। समाचारपत्रों के लिए विज्ञान-पृष्ठ योजना इस संस्था के शुरू के कुछ कार्यक्रमों में से एक थी। इसके अंतर्गत, भारत में हो रही वैज्ञानिक प्रगति के बारे में एक या दो मुख्य लेखों तथा कई छोटे लेखों की सहायता से समाचारपत्र के आकार का एक पृष्ठ तैयार किया गया, जिसमें विषय से संबंधित चित्र तथा फोटोग्राफ भी शामिल थे। इस पृष्ठ को अखबारों में सीधा प्रकाशित किया जा सकता था। आरंभ में ये पृष्ठ मासिक तौर पर हिंदी व अंग्रेजी अखबारों के लिए बनाए गए, परंतु बाद में इसके साथ बच्चों के लिए पृष्ठ तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी विज्ञान-पृष्ठ तैयार किए गए।

विज्ञान प्रसार का कार्यक्रम अब प्रगति पर है। कुछ शृंखलाएं आरंभ हो चुकी हैं व कुछ अन्य की योजना है। “स्वतंत्रता-पूर्व भारत में विज्ञान प्रचार के अग्रदूत” शृंखला में, “पंजाब में विज्ञान प्रचार के महारथी रुचिराम साहनी के संस्मरण” विज्ञान प्रसार का पहला प्रमुख प्रकाशन था। इस पुस्तक की लोकप्रियता से शोधकर्ताओं को देश के दूसरे भागों के ऐसे महापुरुषों को सामने लाने की प्रेरणा मिली है।

विगत विशेषज्ञों द्वारा लिखित लोकप्रिय विज्ञान की पुस्तकें, जिन्होंने पीढ़ियों तक विज्ञान के छात्रों का मार्गदर्शन किया है, आज बच्चों के हाथों में नहीं दिखतीं। ये पुस्तकें आज भी प्रासांगिक हैं, परंतु उपलब्ध नहीं हैं। विज्ञान प्रसार ने ऐसी पुस्तकों का पुनः प्रकाशन करके उन्हें कम मूल्य पर उपलब्ध कराने की योजना बनाई है, ताकि अधिकाधिक बच्चे इसका लाभ उठा सकें। इसके अंतर्गत, माइकेल फैराडे की केमिकल हिस्ट्री आफ ए कैंडल तथा सी. वी. ब्वायज़ की सोप बबल्ज़ एंड फोर्सेस दैट मॉल्ड देम पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों के मराठी, तमिल और हिंदी संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। जॉर्ज गैमो की वन, दूर थी... इनफिनिटी : फैक्ट्स एंड स्पेक्युलेशंस ऑफ साइंस का भी हिंदी अनुवाद हो चुका है।

सन् 1995 के राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के केंद्रीय विचार “स्वास्थ्य के लिए विज्ञान” से प्रेरणा लेकर विज्ञान प्रसार ने एक शृंखला भी प्रारंभ की है। इसके अंतर्गत, सभी सामान्य बीमारियों के लक्षणों, इलाज तथा रोकथाम के उपायों पर पुस्तकें प्रकाशित की जाएंगी। इसकी पहली तीन पुस्तकें यौन-संचारित रोगों, दमा तथा पीलिया पर प्रकाशित हो चुकी हैं। अन्य रोगों पर भी पुस्तकें प्रकाश्य हैं। इन सबका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी किया जाएगा।

मोनोग्राफ शृंखला के तहत विज्ञान प्रसार की योजना लोगों को भारत की वैज्ञानिक विरासत से अवगत कराना है। इस शृंखला में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत के उन योगदानों को शामिल किया जाएगा जिन पर देश को गर्व है तथा जिन्होंने आधुनिक विज्ञान पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। इस शृंखला के तहत पहले मोनोग्राफ The Rustless Wonder : A Study of the Iron Pillar at Delhi का विमोचन 30 जनवरी 1997 को हुआ। प्रस्तुत पुस्तक इसी का हिंदी रूपांतरण है। दूसरा मोनोग्राफ दक्षिण भारतीय कास्य प्रतिमाओं के बारे में एक शोधपूर्ण ग्रंथ है। जहां देवता जीवंत हो उठते हैं शीर्षकयुक्त यह ग्रंथ भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

विज्ञान प्रसार द्वारा प्रकाशित कुछ अन्य पुस्तकें हैं : जे.बी.एस. हाल्डेन की My Friend Mr. Leakey और Everything Has a History, पी.के. राठो की Development and Valuation of Urban Properties और ए.टी. दुदानी की Alternatives to Pesticides in Tropical Countries. विज्ञान प्रसार ने पर्यावरण पर भी एक नई शृंखला शुरू की है। इस शृंखला की पहली पुस्तक है Tehri Hydro-Electric Project, Narmada Valley Project. इसका हिंदी रूपांतरण भी प्रकाशन की प्रक्रिया में है।

24 अक्टूबर 1995 और 11 अगस्त 1999 के पूर्ण सूर्यग्रहण ने विज्ञान प्रसार को ग्रहण से संबंधित पुरानी भ्रांतियों व अंधविश्वासों को दूर करने और

वैज्ञानिक तथ्यों के बारे में जानने की इच्छाशक्ति पैदा करने के लिए देशभर में एक जनजागरण अभियान चलाने का सुअवसर प्रदान किया। इसमें विज्ञान प्रसार ने “राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद” (NCSTC) के साथ मिलकर निम्नलिखित गतिविधियों का आयोजन किया :

1. छात्रों और शिक्षकों के लिए दूरबीन-निर्माण कार्यशाला
2. ग्रहण संबंधी पुस्तकों, बच्चों के लिए उपकरणों तथा पूर्ण सूर्यग्रहण चार्ट का विकास एवं निर्माण
3. वीडियो फिल्मों का निर्माण एवं प्रसारण

विज्ञान प्रसार ने लोगों को सूर्यग्रहण के समय बाहर निकलने और पूर्ण सूर्यग्रहण देखने के लिए प्रेरित करने के प्रयोजन से एक नया प्रयोग भी किया। इस अवसर पर एक ‘सूर्यग्रहण प्रतिज्ञा’ लोगों में बांटी गई जिसे देश के सभी भागों से, हजारों की संख्या में, लोगों ने हस्ताक्षर करके विज्ञान प्रसार को वापस भेजा। कई स्वयंसेवी संस्थाओं तथा समाजसेवी लोगों ने इस प्रतिज्ञा को, प्रादेशिक भाषा में अनुवाद करके, अपनी ओर से लोगों में बांटा। इससे देशभर में सूर्यग्रहण के प्रति जनजागृति पैदा हुई और लाखों लोगों ने अपने घरों से बाहर आकर इस भव्य दृश्य को देखा।

इस अवसर पर कई वीडियो फिल्मों तथा रेडियो कार्यक्रमों का प्रसारण भी किया गया। विज्ञान प्रसार परिवार के लिए यह एक अत्यंत संतोषजनक बात थी कि लोगों ने इस प्रयास की सराहना की और देश के कोने-कोने में लोगों को विज्ञान प्रसार के बारे में जानकारी मिली।

विज्ञान प्रसार ने, विज्ञान का प्रचार करने वाली संस्थाओं के आग्रह पर विज्ञान प्रसार सूचना तंत्र (VIPRIS) शुरू किया है, जिसके माध्यम से विज्ञान संबंधी आंकड़े तथा सूचनाएं आसानी से उपलब्ध हो सकेंगी। इस कंप्यूटरीकृत सेवा को माझ्युलर रूप में बढ़ाया जाएगा। इस समय इस तंत्र के अंतर्गत पाक्षिक किलपिंग सेवा, इलेक्ट्रॉनिक बुलेटिन बोर्ड सेवा तथा रेडियो पर साप्ताहिक विज्ञान समाचार शामिल हैं। कुछ समय पहले तक दूरदर्शन पर भी दैनिक प्रसारण किया जाता था। इसके अतिरिक्त, सीडी-रोम के विकास व निर्माण तथा विभिन्न विषयों पर डाटा बेस भी तैयार किया जा रहा है।

पहला डाटा बेस Environment and Safety Laws : Regulations and Guidance पर तैयार किया गया है। विज्ञान प्रसार ने 12 सितंबर 1996 को इंटरनेट पर अपना होमपेज शुरू किया था। इसके कुछ दिनों बाद विज्ञान की ऑन-लाइन मैगजीन "Com Com" शुरू की गई। होमपेज पर मौसम का हाल, आकाश में तारों, नक्षत्रों और ग्रहों की स्थिति (मासिक तथा दैनिक), भारत में उपलब्ध टीके, विज्ञान और प्रौद्योगिकी प्रयोगशालाओं में होने वाले अनुसंधान,

विज्ञान और प्रौद्योगिकी संबंधी डाटाबेस आदि की जानकारी दी गई है। इसमें हिंदी एचटीएमएल (हाइपर टेक्स्ट मार्कड लैंगवेज) का भी प्रावधान है। वेबसाइट का प्रयोग करने वाले हिंदी प्लग-इन को उतार कर अपने कंप्यूटर में लगा सकते हैं। पाठकों के विचारों के लिए इसमें एक मंच भी है।

मल्टीमीडिया के जरिए सूचनाओं के संप्रेषण की बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए विज्ञान प्रसार ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विभिन्न पहलुओं पर सीडी-रोम बनाने की योजना बनाई है। पहले दो सीडी-रोम The Rustless Wonder : A Study of the Iron Pillar at Delhi तथा Mad, Mad, Mad Cow : An Overview of the Mad Cow Disease पर आधारित हैं। इनके अलावा ग्रहण पर भी सीडी-रोम तैयार किया गया है।

विज्ञान प्रसार द्वारा कई वीडियो कार्यक्रम भी आयोजित किए गए हैं। हाल के दो वीडियो कार्यक्रम हर्बल पेट्रोल और धूमकेतु पर आधारित थे। कई अन्य कार्यक्रम अभी निर्माण की प्रक्रिया में हैं।

विज्ञान प्रसार और आकाशवाणी के भोपाल केंद्र ने संयुक्त रूप से 'पर्यावरण कॉलिंग' नामक रेडियो शृंखला तैयार की थी। छब्बीस कड़ियों वाले इस पाक्षिक कार्यक्रम में श्रोताओं को फोन पर सवाल पूछने की सुविधा थी। इस कार्यक्रम का मकसद लोगों को पर्यावरण के हर पहलू की जानकारी देना था। इस कार्यक्रम में भाग लेने वालों को पुरस्कृत भी किया जाता था। विजेताओं को पर्यावरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण मध्य प्रदेश के किसी पर्यटन स्थल पर दो-तीन दिनों के लिए ले जाया जाता था। आकाशवाणी के चेन्नई और गुवाहाटी केंद्रों के साथ भी ऐसे ही कार्यक्रम बनाने की योजना है।

विज्ञान प्रसार ने राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद तथा आकाशवाणी के साथ मिलकर, 18 भारतीय भाषाओं में, 108 कड़ियों वाले रेडियो धारावाहिक "मानव का विकास" के ऑडियो कैसेट भी बनाए हैं। इसके अतिरिक्त, विज्ञान प्रसार की कई अन्य गतिविधियां विभिन्न चरणों में चल रही हैं।

विज्ञान प्रसार विपनेट के तत्त्वावधान में देश के विभिन्न भागों में विज्ञान क्लब भी स्थापित करने के प्रसास कर रहा है। इसके अलावा हैम-रेडियो को भी लोकप्रिय बनाने की योजना है। विज्ञान प्रसार की गतिविधियां तो और भी हैं, लेकिन फिलहाल इतना ही।

भूमिका

बी सर्वे शताब्दी में विज्ञान, तकनीकी तथा इंजीनियरी में आश्चर्यजनक रूप से बहुमुखी प्रगति हुई है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि हमारे जीवन और चिंतन पर विज्ञान का जितना प्रभाव आज है, उतना मानव के संपूर्ण इतिहास में कभी नहीं रहा। आज इस बात पर विश्वास करना कठिन लगता है कि विज्ञान एवं तकनीकी का क्रमबद्ध व उद्देश्यपूर्ण तथा व्यापक विकास पिछले केवल 200 वर्षों में हुआ है! लगभग दो लाख वर्षों तक मानव अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए पदार्थों व औजारों के रूप में केवल खाल, हड्डी तथा पत्थर का प्रयोग करता रहा है। धातुओं में उसकी रुचि तथा उन्हें उपयोग में लाने लायक बनाने की उसकी क्षमता, जिसे हम आज धातुकी अथवा धातु-विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी कहते हैं, केवल दस हजार वर्ष पुरानी है।

आज स्कूल के विद्यार्थी भी जानते हैं कि पदार्थों की दुनिया प्राकृतिक रूप से उपलब्ध 92 रासायनिक तत्वों से बनी है, जिन्हें सुपरिचित आवर्त सारणी के रूप में क्रमबद्ध किया गया है (चित्र 1)। इनमें लगभग दो-तिहाई तत्व धातुएं हैं (आवर्त सारणी के अन्य तत्व अधातु तथा निष्क्रिय गैसें हैं) और ये इस शताब्दी के विशाल इंजीनियरी व प्रौद्योगिकी ढांचे का आधार हैं। पालने से लेकर अंत्येष्टि तक, जीवन पर्यात, धातुएं मनुष्य का साथ निभाती हैं तथा उसके जीवन को नाना प्रकार से समृद्ध करती हैं। इसके बावजूद रासायनिक तत्वों की, धातुएं जिनका एक प्रमुख भाग हैं, खोज की गति काफी धीमी रही है। प्राचीन काल (1500 ई.पू. से 1000 ईसवी तक) तथा मध्ययुग (1000 ईसवी से 1750 ईसवी तक) में, वास्तव में 1500 ईसवी तक अर्थात् आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व तक, हमें केवल आठ धातुओं के बारे में जानकारी प्राप्त थी ! ये धातुएं थीं— सोना (Au), चांदी (Ag), तांबा (Cu), लोहा (Fe), सीसा (Pb), रांगा (Sn), पारा (Hg) एवं जस्ता (Zn)। ऐत्युमिनियम जैसी अत्यंत प्रचलित धातु भी सन् 1827 में ही बनाई जा सकी ! यहां यह बताना प्रासंगिक होगा कि आज हमें 108 तत्वों के बारे में जानकारी प्राप्त है जिनमें 92 प्राकृतिक तत्वों के अतिरिक्त, परमाणु रिएक्टरों तथा त्वरकों में कृत्रिम रूप से बनाए गए 16 तत्व भी शामिल हैं।

लोहा मानव की जानकारी में आने वाली एवं उसके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली

आवर्त	प्राप्ति																		अवधु																	
	समूह			प्राप्ति						अवधु									समूह			प्राप्ति						अवधु								
	I A	II A	III A	IV A	V A	VI A	VII A	VIII	IB	II B	III B	IV B	V B	VI B	VII B	O		I A	II A	III A	IV A	V A	VI A	VII A	VIII	IB	II B	III B	IV B	V B	VI B	VII B	O			
1 लघु																																				
2 लघु	3 Li	4 Be																5 B	6 C	7 N	8 O	9 F	10 Ne													
3 लघु	11 Na	12 Mg																13 Al	14 Si	15 P	16 S	17 Cl	18 A													
4 दीर्घ	19 K	20 Ca	21 Sc	22 Ti	23 V	24 Cr	25 Mn	26 Fe	27 Co	28 Ni	29 Cu	30 Zn	31 Ga	32 Ge	33 As	34 Se	35 Br	36 Kr																		
5 दीर्घ	37 Rb	38 Sr	39 Y	40 Zr	41 Nb	42 Mo	43 Tc	44 Ru	45 Rh	46 Pd	47 Ag	48 Cd	49 In	50 Sn	51 Sb	52 Te	53 Po	54 Xe																		
6 दीर्घ	55 Cs	56 Ba	57 La	72 Hf	73 Ta	74 W	75 Re	76 Os	77 Ir	78 Pt	79 Au	80 Hg	81 Tl	82 Pb	83 Bi	84 Po	85 At	86 Rn																		
7 दीर्घ	87 Fr	88 Ra	89 Ac	90 Th	91 Pa	92 U	93 Np	94 Pu	95 Am	96 Cm	97 Bk	98 Cf	99 Es	100 Fm	101 Md																					

वित्र 1 : तत्त्वों की आवर्त सारणी

■ प्रस्तुत नेप्टिन धन
◆ सुप्रस्तुत नेप्टिन
□ चर्मिष हिस्क मरवन
□ एकनाम
■ अंग केविट धन
— अंग केविट द्विसमलालक
△ रोचाहित
● द्रव
△ निकलकीय
◆ अंगरोधिक
◆ अंगरोधिक धन
◆ अंगरोधिक अंगरोधिक
◆ अंगरोधिक अंगरोधिक धन

सर्वप्रथम धातुओं में से एक है। पिछली दो शताब्दियों में इसकी आवश्यकता और बढ़ी है और आज यह, तकनीकी तथा व्यावसायिक रूप से, सर्वाधिक महत्वपूर्ण धातु है। आजकल विश्व में धातुओं का वार्षिक उत्पादन लगभग 80 करोड़ टन है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस धातु के कुल उत्पादन का 95% भाग ढलवां लौह तथा इस्पात (लौह की मिश्रधातु, जिसमें मुख्यतः कार्बन तथा कुछ अन्य तत्व थोड़ी मात्रा में मिलाए जाते हैं) है। यद्यपि आधुनिक भारत इस महत्वपूर्ण धातु के उत्पादन में अभी तक काफी पीछे है, परंतु प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत ने लौह तथा इस्पात प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आश्चर्यजनक सफलताएं अर्जित करने का गौरव प्राप्त किया था। वास्तव में, आज के धातुविज्ञानी यह मानते हैं कि प्राचीन धातुकी में भारत का सर्वाधिक योगदान लौह और इस्पात के क्षेत्र में ही रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक भारत के प्राचीन इतिहास के बारे में बहुत कम खोज हुई थी। वास्तव में, भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857 ई.) के कुछ वर्ष बाद, सन् 1861 में, कर्नल अलेक्जेंडर कनिंघम (जो पहले पश्चिमोत्तर प्रांत के मुख्य अभियंता तथा बाद में बंगाल के मेजर जनरल, रॉयल इंजीनियर थे) की पहल पर उत्तर भारत में व्यवस्थित रूप से पुरातत्वीय अन्वेषण शुरू किया गया। इन अन्वेषणों ने शीघ्र ही भारत की प्राचीन सभ्यता की श्रेष्ठता को सिद्ध कर दिया। भारतीय उपमहाद्वीप की मुख्य प्रागैतिहासिक सभ्यताओं और संस्कृतियों को खुदाई से प्राप्त सूत्रों के आधार पर जिन दो वर्गों में बांटा गया है वे हैं – ‘सिंधु घाटी सभ्यता’ तथा ‘हड्पा संस्कृति’। ये खोजें मोहेंजो-दरो, हड्पा, तक्षशिला, कालीबांगा तथा लोथल की खुदाइयों द्वारा की गईं। इनमें से पहले तीन स्थल आज के पाकिस्तान में और बाकी दो भारत में, क्रमशः राजस्थान व गुजरात में, हैं। सिंधु घाटी सभ्यता 2800 ई.पू. से 1700 ई.पू. तक, लगभग 1000 वर्षों तक जीवित रही, परंतु किसी प्राकृतिक दुर्घटना अथवा विदेशी आक्रमण के कारण अचानक ही नष्ट हो गई। यह सिद्ध हो चुका है कि सिंधु घाटी के लोगों को मिट्टी तथा सिरामिक के पात्र बनाने में विशेष दक्षता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त उन्हें सोना, चांदी, तांबा, सीसा तथा रांगा आदि धातुओं के बारे में भी काफी जानकारी थी। हड्पा संस्कृति के लोगों को यद्यपि कई अन्य कलाओं तथा तकनीकों में निपुणता प्राप्त थी, परंतु लोहे से वे अनभिज्ञ थे। संभवतः वे लौह अयस्क को गलाने के लिए आवश्यक उच्चताप तकनीकी विकसित नहीं कर पाए थे।

भारत में लोहे की उपलब्धता

अब तक प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह समझा जाता है कि भारत में लौहयुग का प्रारंभ वैदिक काल के दौरान लगभग 1000 ई.पू. में हुआ, जो पश्चिमी देशों के मुकाबले

में कई शताब्दी पीछे था। परंतु यह भल सर्वमान्य नहीं है और कई वैज्ञानिकों का तो यह मानना है कि भारत में लोहे का प्रयोग इस काल से काफी पहले ही शुरू हो चुका था। अभी तक उपलब्ध स्रोतों के आधार पर, भारत में लोहे के प्रयोग का पहला वर्णन यूनानी इतिहासज्ञ हीरोडोटस् द्वारा थर्मोपाइली युद्ध (480 ई.पू.) के संदर्भ में मिलता है। इस युद्ध में ईरानी सेना के साथ भारतीय भी थे और उन्होंने लोहे की नोंक वाले तीरों का प्रयोग किया था। इसके पश्चात्, 326 ई.पू. के ऐतिहासिक युद्ध के बाद, राजा पुरु द्वारा सिकंदर को लगभग 30 पौँड इस्पात भेट करने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में लोहे के लिए पहले अयस्त व बाद में कृष्णायस् अथवा श्यामायस् (काली धातु) शब्दों का प्रयोग हुआ है, जबकि तांबे को लोहितायस् (लाल धातु) कहा गया है। इन संदर्भों से सिद्ध होता है कि 500-400 ई.पू. में भारत में इस्पात बनाने की विधि का पूर्णतया विकास हो चुका था, परंतु अयस्क से धातु प्राप्त करने की तकनीकी के बारे में विवरण उपलब्ध नहीं है। इसा पूर्व चौथी या तीसरी शताब्दी के महान चिकित्सक सुश्रुत ने अपनी पुस्तक में इस्पात से बने दर्जनों शल्ययंत्रों का वर्णन किया है। अथर्ववेद तथा कुछ उपनिषदों के अतिरिक्त, दो संस्कृत महाकाव्यों – रामायण तथा महाभारत – में भी हमें लोहे के विविध उपयोगों का वर्णन मिलता है। पुराणों में भी लोहे से बनी तलवारों, भालों, गदाओं, ढालों, घोड़े के पैरों के नालों, रथों के पहियों तथा युद्ध की अन्य सामग्री के बारे में काफी विस्तृत चर्चा मिलती है। मौर्य सम्राट अशोक के, जिसका शासनकाल 269 ई.पू. में आरंभ हुआ, शिलालेख भी पत्थरों को काटने के लिए ऐनी छेनियों तथा कठोर इस्पात के औजारों के उपयोग का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय धातुकर्म के विकास की पराकाष्ठा के बारे में भारतीय तथा विदेशी पुरातत्वविदों, इतिहासकारों तथा तकनीकीविदों द्वारा प्रस्तुत तथ्यों ने पश्चिमी देशों के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों को काफी प्रभावित किया है। जैसाकि भारतीय धातुवैज्ञानिकों – के. एन. पी. राव, सी. वी. सुंदरम् तथा एन. आर. श्रीनिवासन – ने भारतीय लौह और इस्पात उद्योग के बारे में अपने लेखों में स्पष्ट कहा है, अंग्रेज वैज्ञानिकों ने भारतीय धातुकर्मियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है :

इस्पात बनाने की भारतीय विधि कौशल और प्राचीनता की दृष्टि से आश्चर्यजनक है। इसमें संदेह नहीं कि मिस्र के निवासियों ने जिन औजारों से अपने सूच्याकार स्तंभों (*Obelisks*) पर और पोरफायरी व साइनाइट से बने मंदिरों में चित्राक्षरों (*hieroglyphics*) को उकेरा है वे भारतीय इस्पात से बनाए गए थे। ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह पता लग सके कि भारतीयों के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्राचीन सभ्यता को इस्पात बनाने की विधि मालूम थी। यूनानी तथा लैटिन लेखकों के वर्णन से सिद्ध हो जाता है कि उन्हें इस्पात के गुणों व

उपयोग के बारे में तो जानकारी थी, परंतु वे लोहे को इस्पात में परिवर्तित करने की तकनीकी से पूरी तरह अनभिज्ञ थे।... मानव सभ्यता तथा आधुनिके निर्माण व उत्पादन उद्योगों से संबंधित कलाओं को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली इस खोज का श्रेय, निस्संदेह, भारत को ही जाता है।

टी. ए. हीथ (1839)

कुछ समय पहले तक दिल्ली जैसे स्तंभ का निर्माण दुनिया की बड़ी से बड़ी फाउंड्री में भी असंभव होता, और आज भी बहुत कम ऐसी कार्यशालाएं हैं जहां इतनी बड़ी धातु-संरचना का निर्माण किया जा सके।

वी. बाल (1881)

निस्संदेह, लौह और इस्पात बनाने की प्रक्रिया हजारों वर्षों से भारत में इस्तेमाल की जाती रही है।.... अतः ऐसा हो सकता है कि प्राचीन मिस्र के निवासी भारतीय लौह व इस्पात से परिचित थे और उन्होंने अपने महान प्रस्तर-स्मारकों में प्रयुक्त औजारों के लिए या तो भारत से इस्पात मंगवाया होगा अथवा भारत के कारीगरों को इस्पात बनवाने के लिए मिस्र बुलाया होगा।

सर रॉबर्ट हैडफील्ड (1912)

भारत का विख्यात मूषा (क्रुसिबल) इस्पात : वुट्ज़

दिल्ली का प्रसिद्ध लौह-स्तंभ प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की मुख्य धातुकीय उपलब्धियों में से एक है तथा लौह तकनीकी के क्षेत्र में यह अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके बारे में शेष अध्यायों में विस्तार से चर्चा की जाएगी। यहां एक अन्य भारतीय इस्पात की खोज एवं निर्माण की चर्चा उचित होगी, जिसे बहुत से प्रमुख धातुविद इस्पात प्रौद्योगिकी में प्राचीन व मध्यकालीन भारत का सबसे बड़ा योगदान मानते हैं। इस अत्युच्च कार्बन इस्पात को विश्व में 'वुट्ज़' के नाम से जाना जाता है और भारत के कुछ भागों में इसे 'खस' भी कहते हैं। 'वुट्ज़' शब्द, संभवतः, कन्नड व तेलुगु भाषा में इस्पात के लिए प्रयुक्त शब्द 'वुक्कू' का अपभ्रंश है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि यह शब्द आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र से आया है और इसका अर्थ पिटवां लोहे का क्रुसिबल में कार्बनीकरण करना है।

एक लंबे अरसे तक कुछ लोगों की यह धारणा रही है कि भारत में लौह और इस्पात प्रौद्योगिकी पर्शिया व तुर्की जैसे पश्चिमी एशिया के देशों से आई। परंतु आज इस मत पर प्रश्नचिह्न लगे हैं। रेडियो-कार्बन कालनिर्धारण पद्धति पर आधारित पुरातात्त्विक साक्ष्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ईसा पूर्व पहली सहस्राब्द में काश्मीर से कन्याकुमारी

तक (पाकिस्तान सहित) पूरे भारत में लोहा बनाया जाता था। इस संबंध में सारी कड़ियां आपस में जुड़ी नहीं हैं। यह संभव है कि यह तकनीक देश के विभिन्न भागों में स्वतंत्र रूप से विकसित हुई हो, क्योंकि लगभग सभी क्षेत्रों में अच्छी किस्म का लौह अयस्क उपलब्ध था। स्पष्ट है कि लिखित साहित्य के अभाव में, धार्मिक कर्मकांडों व ललितकलाओं की भाँति ही, यह तकनीकी ज्ञान भी मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचा और इसी कारण काल के गाल में समा गया।

इस बात के प्रबल एवं विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध हैं कि ईसा पश्चात् की दूसरी शताब्दी में भारतीय इस्पात का व्यापार होता था तथा ईरान, मध्य-पूर्व और अरब देशों में तलवारें व युद्ध-कवच बनाने के लिए इसका एक प्रमुख सामग्री के रूप में उपयोग होता था। इस्लामी युग की साहित्यिक वैज्ञानिक पुस्तकों के संदर्भ से स्पष्ट होता है कि क्रुसिबल इस्पात का निर्माण भारतीय खोज थी। परंतु इस जानकारी को काफी समय तक गुप्त रखा गया। आठवीं व नौवीं सदी के इस्लामी लेखकों व व्यापारियों ने इस भेद को शेष दुनिया के सामने खोला। भारतीय इस्पात दमिश्क की तलवारों का लगभग पर्याय बन चुका था और सुदूर पूर्व के देशों को, यहां तक कि सुमात्रा, बोर्नियो तथा चीन को भी, इसका निर्यात होता था। पंद्रहवीं शताब्दी तक भारतीय इस्पात एशियाई व अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में एक महत्वपूर्ण तथा अपेक्षित वस्तु बन चुका था।

आधुनिक शब्दावली में, क्रुसिबल विधि द्वारा निर्मित 0.5–2.1 प्रतिशत कार्बन-युक्त इस्पात को 'बुट्ज़' इस्पात का नाम दिया जा सकता है। इसे दो वर्गों में बनाया जाता था : (क) 'मृदु' वर्ग : जिसमें 0.5–0.8 प्रतिशत कार्बन, तथा (ख) 'कठोर' वर्ग : जिसमें 1.1–2.1 प्रतिशत कार्बन होता था। घातक हथियारों में प्रयुक्त 'बुट्ज़' इस्पात में लगभग 1.5 प्रतिशत कार्बन हो सकता है। भौतिक गुणों के अतिरिक्त, ऐसे 'बुट्ज़' इस्पात से बनाई गई दमिश्क तलवारों का पहचान-चिह्न उनकी सतह पर जल-चिह्नों की उपस्थिति है, जिन्हें 'वाटरिंग' कहा जाता है।

पिछले कुछ वर्षों में अमरीका, इंग्लैंड व जर्मनी जैसे कुछ यूरोपीय देशों में 'बुट्ज़' के बारे में विशेष रूचि जागृत हुई है। इस इस्पात के अति-सुघट्यता (super plasticity) तथा उच्च प्रतिघात कठोरता (high-impact hardness) जैसे विशेष गुणधर्म इस रूचि के मुख्य कारण हैं। वास्तव में 'बुट्ज़' के बारे में वैज्ञानिक अध्ययन सत्रहवीं शताब्दी में ही शुरू हो गया था। इस पर किए गए प्रारंभिक प्रयोग वाटरिंग चिह्न सहित मूल तलवारों जैसी तलवारें निर्मित करने की दिशा में थे। यद्यपि 'बुट्ज़' के अद्वितीय गुणों में छिपा विज्ञान आज काफी हद तक समझा जा चुका है, परंतु आज भी ऐसा लगता है कि इसके सभी भौतिक व यांत्रिक गुणधर्मों को प्राप्त करने के लिए प्राचीन तकनीकी के बारे में और अधिक जानकारी आवश्यक है।

आधुनिक भारत में लौह एवं इस्पात

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय सभ्यताएं जब अपने शिखर पर थीं तब वे कला, बौद्धिकता तथा प्रवर्तन की दृष्टि से अत्यंत विकसित थीं। कई क्षेत्रों में, विशेषकर लौह व इस्पात की धातुकी में, उनकी उपलब्धियां इतनी आश्चर्यजनक थीं कि उन पर हम आज भी गर्व कर सकते हैं। परंतु लगभग मध्ययुग के अंत में ऐसा समय भी आया जब हमारी ताकत, इच्छा-शक्ति तथा उद्यमशीलता में कमी आती गई और एक राष्ट्र के रूप में हम विदेशी आक्रमणों का मुकाबला नहीं कर सके। हमारी प्रगति रुक सी गई और हम एक गहरी तंद्रा के वशीभूत होकर गतिहीन हो गए। सन् १८५०-१९५० का काल, स्वदेशी तकनीकों के विकास की दृष्टि से, शायद सब से दुखद था। यूरोप में औद्योगिक क्रांति तथा पश्चिमी देशों में विज्ञान के विकास का यह स्वर्णिम युग था। परंतु इन दो सदियों में भारत में विज्ञान व तकनीकी के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई। इसी का परिणाम था कि सन् १९४७ में जब भारत औपनिवेशिक दासता से मुक्त हुआ, तो उसे अविकसित देशों की श्रेणी में रखा गया और हमें स्थान-स्थान पर अपमान के घूट पीने पड़े।

इस घनघोर अंधकार में कुछ दीपक भी जले। सन् १८७५ में इंडो-ब्रिटिश सहयोग से कुलटी में आधुनिक विधि से कच्चा लोहा बनाने के लिए बराकर वर्क्स की स्थापना की गई। महान भारतीय उद्योगपति जे. एन. टाटा ने बिहार में साकची (अब जमशेदपुर) में सन् १९०७ में टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी स्थापित कर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम उठाया। एक अन्य दूरदर्शी भारतीय सिविल इंजीनियर व तत्कालीन मैसूर के दीवान सर मोक्षगुण्डम् विश्वेश्वरैया ने सन् १९१९ में भद्रावती में मैसूर आयरन एंड स्टील वर्क्स की स्थापना की। ये सब घटनाएं लौह और इस्पात क्षेत्र में उन बड़ी परियोजनाओं की नींव बनी जो स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत ने सन् १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ शुरू की।

पिछली सात पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भारत ने भिलाई, राऊरकेला, दुर्गापुर, बोकारो तथा विशाखापट्टनम् में बड़े-बड़े इस्पात संयंत्रों की स्थापना के माध्यम से इस क्षेत्र में एक सुदृढ़ आधार विकसित किया है। परंतु इन बड़ी औद्योगिक इकाइयों को, प्रारंभ से ही, कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिसके कारण इस्पात उत्पादन में शायद वांछित प्रगति नहीं हो सकी है। फिर भी, सन् १९४८ में दस लाख टन इस्पात उत्पादन से आरंभ करके लगभग ४० वर्ष पश्चात् १२० लाख टन उत्पादन कर सके। वर्ष २००० तक यह उत्पादन २०० लाख टन होने की आशा की जा रही है, जबकि उस समय की मांग २५० लाख टन आंकी गई है। फिर भी, इन आंकड़ों को दुनिया के अन्य देशों के परिप्रेक्ष्य में देखकर ही अपनी वास्तविक प्रगति का जायजा लिया जा सकता है। जापान का उत्पादन सन् १९४८ में दस लाख टन से कम था, परंतु सन्

1988 से बहुत पहले ही वहां का उत्पादन 1000 लाख टन पर पहुंच चुका था, जबकि उन्हें सारा लौह अयस्क आयात करना पड़ता है ! उस समय इस्पात का प्रतिवर्ष विश्व-उत्पादन 7000 लाख टन के लगभग था ।

सारणी 1 : वर्ष 1991 के इस्पात उत्पादन के आंकड़े

(क) कुछ चुनिंदा देशों का उत्पादन

क्र.सं.	देश	इस्पात की प्रति व्यक्ति खपत (कि. ग्रा.)	उत्पादन (दस लाख टन)
1	भारत	19.2	14.7
2	चीन	68.3	67.2
3	ब्राजील	88.5	20.6
4	अमरीका	439.2	88.7
5	जर्मनी	558.7	38.4
6	जापान	607.7	110.3
विश्व औसत 150			

(ख) वर्तमान स्तर पर परियोजनाओं में पूँजी निवेश

क्र.सं.	परियोजना	अनुमानित निवेश (रुपए/ प्रति टन)	आर्थिक दृष्टि से न्यूनतम क्षमता (दस लाख टन प्रतिवर्ष)
1	समाकलित इस्पात संयंत्र	27,500	3.00
2	अयस्क गुटिकायन संयंत्र	2,500	2.00
3	स्पंज लौह संयंत्र	6,000	1.50
4	तप्त बेल्लन मिल	18,000	1.00
5	शीत बेल्लन मिल	9,000	0.20
6	गैल्वेनिकरण संयंत्र	6,500	0.05

यह निराशजनक स्थिति है, जिसका हमें दृढ़ता से सामना करना होगा। इस्पात की प्रति व्यक्ति खपत को किसी राष्ट्र के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का सूचक माना जाता है। भारत में यह खपत विश्व-औसत के मुकाबले काफी कम है (सारणी- 1 क)। प्रौद्योगिकी का आधुनिकीकरण तथा पुराने यंत्रों व उपकरणों को बदलना हमारे इस्पात संयंत्रों के लिए अत्यंत आवश्यक है। परंतु कई कारणों से इन सुधारों की गति बहुत धीमी रही है। हम इस्पात के एक टन उत्पादन पर शायद विश्व में सबसे अधिक पदार्थ तथा ऊर्जा खर्च करते हैं, जबकि हमारा लौह उत्पादन सूचकांक सब से कम है। नए संयंत्रों की स्थापना काफी खर्चीली है (सारणी- 1 ख)। लगभग 25,000 रुपए प्रति टन की लागत के हिसाब से दस लाख टन की क्षमता के संयंत्र के लिए लगभग 2,500 करोड़ रुपयों की आवश्यकता होती है। इस चर्चा से स्पष्ट है कि भारत को विकसित देशों के स्तर पर पहुंचने के लिए मार्ग में आने वाली कई बाधाओं को पार करना पड़ेगा।

भारत में इस्पात उद्योग के महारथी, टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स के एस.के. नानावटी के वह शब्द याद आते हैं जो उन्होंने सन् 1963 में जमशेदपुर में हुई एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में कहे थे :

प्रत्येक भारतीय अपने गौरवशाली अतीत पर गर्व कर सकता है, परंतु, दुर्भाग्यवश, हम अपनी उस बहुमूल्य तकनीकी प्रगति का लाभ उठाने में असमर्थ रहें हैं। आज स्वतंत्र भारत के युवा धातुविज्ञानी को अपने उस अतीत से प्रेरणा लेनी चाहिए जब हमारे पूर्वजों ने महत्वपूर्ण सफलताएं अर्जित की थीं और आशा करनी चाहिए कि निकट भविष्य में ही हम उन धातुकर्मियों के स्तर पर पहुंच सकेंगे जिन्होंने दिल्ली में लौह-स्तंभ का निर्माण करके धातुकी कला एवं विज्ञान की प्रगति में एक कीर्तिमान स्थापित किया था।

अध्याय १

तथ्य एवं आंकड़े

यह विख्यात लौह-स्तंभ दिल्ली के समीप मेहरोली गांव में स्थित है और पर्यटकों के आकर्षण के केंद्र एक अन्य प्रमुख स्मारक कुतुब मीनार से अधिक दूर नहीं है। आज विद्वान् व वैज्ञानिक, दोनों ही इस बात को मान चुके हैं कि १५०० से अधिक वर्षों से यह विद्यमान है और इसका निर्माण गुप्तकाल (३२०-४९५ ई.) में किया गया था। उस समय भारतीय सभ्यता अपनी उन्नति की चरमसीमा पर थी और साहित्य, कला व शिल्पविज्ञान के क्षेत्रों में असाधारण उपलब्धियां प्राप्त कर चुकी थी। स्थानीय भाषा में इसे लोहे की लाट अर्थात् लौह-स्तंभ के नाम से जाना जाता है। इसके बारे में कई किंवदंतियां प्रचलित हैं। इतिहास, पुरातत्व एवं विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में कार्यरत अनुसंधानकर्ताओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक इस धातुकीय चमत्कार की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। इस अविश्वसनीय तथ्य से हमें विस्मित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान यूरोप में अठारहवीं सदी से ही आरंभ हुआ माना जाता है। उस काल में भारत अव्यवस्था, भावहीनता, उदासीनता व निष्क्रियता की शोचनीय स्थिति में था।

नोबेल पुरस्कार से सुशोभित भारत के महान कवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में लिखी अपनी सुप्रसिद्ध कविता जन गण मन में हमारे देश की उस समय की पीड़ा का सटीक वर्णन किया है। इस भावात्मक कविता के पहले पद्यखंड को राष्ट्रीय गीत का उपयुक्त सम्मान दिया गया है और अधिकतर लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं कि इस सुंदर कविता में चार और पद्यखंड भी हैं। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के भारत का वर्णन इस प्रकार किया है : घोर-तिमिर-घन-निविड़-निशीथे-पीड़ित-मूर्च्छित-देशे.... (अर्धरात्रि के अथाह घनघोर अंधकार के सदृश अत्यधिक बुराइयों व संज्ञाहीनता की स्थिति से पीड़ित देश)।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उस समय देश के ऐसे असाधारण स्मारक की

ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया, जबकि आज इसे दिल्ली और इसके आसपास के ऐतिहासिक अवशेषों में तकनीकी तौर पर अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

लौह-स्तंभ से संबंधित आरंभिक दस्तावेज उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारतीय उपमहाद्वीप में भ्रमण करने वाले उन ब्रिटिश सैनिकों व पर्यटकों के थे जिनकी संख्या उन दिनों धीरे-धीरे बढ़ रही थी। कार स्टीफेन ने सन् 1876 में और जे. एफ. फ्लीट ने सन् 1888 में इस बात का उल्लेख किया है कि सन् 1828 में लार्ड कोम्बरमेयर के साथ पश्चिमोत्तर भारत का दौरा करते वक्त कैप्टन आर्चर ने दिल्ली-स्तंभ की चर्चा की थी और इसके अभिलेख को "अज्ञात पुराकाल का" बताकर कहा था कि "इसे पढ़ना संभव नहीं है।" बिशप कॉलेज के डॉ. मिल के अनुरोध पर सन् 1831 में, उत्तरी भारत की सत्ताईसवीं रेजिमेंट में कार्यरत लेफिटनेंट विलियम इलियट ने इस अभिलेख की एक अनुकृति तैयार की। परंतु इस काम को इतनी लापरवाही के साथ किया गया था कि इसका एक भी शब्द पढ़ा नहीं जा सका। इंजीनियर्स दस्ते में कार्यरत कैप्टन टी. एस. बर्ट ने, कई वर्ष बाद, इस अभिलेख का स्थानी में एक विश्वसनीय रूपा तैयार किया और इसे उन्नीसवीं सदी के एक महान भारतविद्याविद जेम्स प्रिंसेप को दे दिया। इससे प्रेरणा लेकर जेम्स प्रिंसेप ने दिल्ली-स्तंभ से संबंधित जो प्रथम महत्वपूर्ण लेख लिखा वह सन् 1838 में, अभिलेख के लिथोग्राफ सहित, जरनल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बैंगाल में प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्राचीन नागरी लिपि में मूल संस्कृत पाठ, आधुनिक नागरी में उसके लियंतरण और अंग्रेजी अनुवाद का समावेश था।

प्रिंसेप के इस पथ-प्रदर्शक प्रयास के बाद सन् 1871 में जनरल ए. कनिंघम (बाद में सर अलेकजेंडर) और सन् 1875 में मुंबई के डा. भाऊ दाजी ने इस स्तंभ के 6 पंक्तियों के संस्कृत अभिलेख पर और प्रकाश डाला। जनरल कनिंघम का मत था कि अभिलेख तीसरी या चौथी सदी का है, जबकि डा. भाऊ दाजी की राय थी कि यह उसके कुछ बाद का है। डा. भाऊ दाजी ने एशियाटिक सोसायटी के सदस्यों के समक्ष मुंबई में अप्रैल 1871 को इस विषय पर एक लेख प्रस्तुत किया जिसे 1875 में सोसायटी के जरनल में प्रकाशित किया गया। भाऊ दाजी के इस महत्वपूर्ण लेख में, पद्यात्मक अभिलेख के संशोधित पाठ व अनुवाद के साथ-साथ, राजा का सही नाम 'चंद्र' भी दिया गया था। इसमें भगवानलाल इंद्रजी द्वारा कपड़े पर की गई प्रतिलिपि का लिथोमुद्रित संशोधित पाठ भी था। वर्ष 1862 से 1865 तक के कार्य की रिपोर्ट कनिंघम ने सन् 1871 में प्रकाशित की। उनकी राय थी कि इस स्तंभ पर उत्कीर्ण 'अन्य अभिलेख संख्या में अधिक होते हुए भी महत्वपूर्ण नहीं हैं।'

सन् 1876 में स्टीफेन ने कहा कि इस स्तंभ के मूल स्थान व निर्माणकाल के

संबंध में कोई विश्वसनीय विवरण उपलब्ध नहीं है। प्रचलित मान्यता यद्यपि इसके निर्माता के बारे में मौन है, परंतु रायपिथौरा के मंदिर में इस स्तंभ की स्थापना का श्रेय अनंगपाल-प्रथम को दिया जाता है। सन् 1190 के आसपास जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस मंदिर को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया, तब स्तंभ को अपने पुराने स्थान पर ही रहने दिया गया। परंतु परंपरा अथवा इतिहास, किसी से भी, इसके निर्माण के उद्देश्य व निर्माणकर्ता के नाम के बारे में जानकारी नहीं मिलती। भाऊ दाजी के विचार से मस्जिद और इसके आसपास की इमारतों में ऐसे पत्थर लगे हुए हैं जो दसवीं या ग्यारहवीं सदी के जैन, शैव और वैष्णव मंदिरों से संबंध रखते हैं।

स्टीफेन ने स्तंभ की स्थापना से संबंधित अनंगपाल-द्वितीय के संक्षिप्त अभिलेख के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि इसकी तिथि संवत् 1109 (1052 ई.) है जो स्पष्ट रूप से नए स्थान से संबंधित है। स्तंभ पर संवत् 1767 (1710 ई.) का आधुनिक नागरी लिपि में छह पक्कियों का अभिलेख है। इस पर संवत् 1883 (1826 ई.) के चौहान राजा छत्रसिंह के दो अभिलेख भी खुदे हुए हैं। इसके अतिरिक्त, इस स्तंभ पर सन् 1651 व 1652 के दो फारसी अभिलेख हैं जिनमें संभवतः मस्जिद व स्तंभ को देखने के लिए आने वालों के नाम हैं।

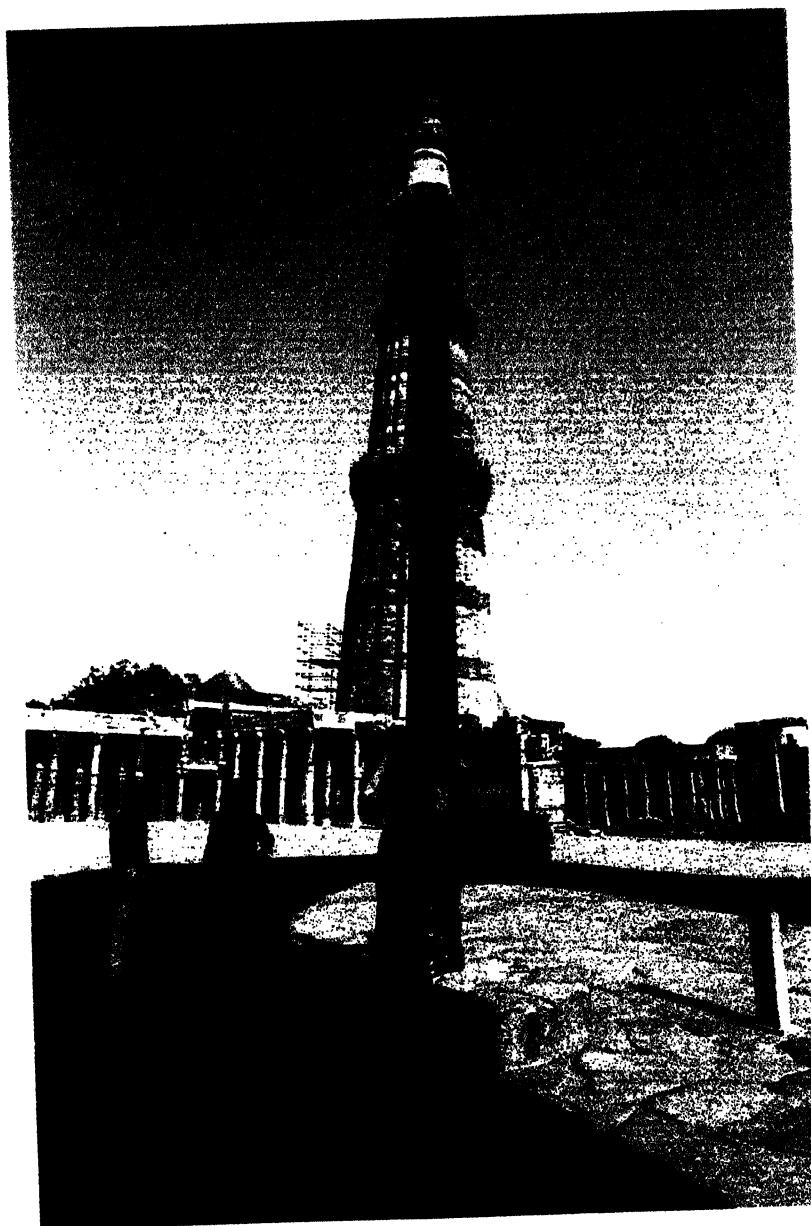
स्तंभ के विवरण

नेशनल मेटलर्जिकल लेबोरेटरी (NML) ने फरवरी 1963 में अपने तकनीकी जरनल का लौह-स्तंभ के बारे में एक विशेषांक प्रकाशित किया था। डब्ल्यू. ई. बार्जेट और आर. एफ. स्टैनर्स ने इसमें लिखा है कि अपने विशाल आकार व उत्कृष्ट परिरक्षण के कारण दिल्ली-स्तंभ एक लंबे अरसे से पुराविदों की प्रशंसा व धातुविदों की जिज्ञासा का विषय रहा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य से वैज्ञानिक और पुरातात्त्विक साहित्य में इस स्तंभ के बारे में यात्री-कथाओं की भरमार है, परंतु उन्हें काल्पनिक उड़ान की ही संज्ञा दी जा सकती है। कइयों ने इसे इसके वास्तविक माप से कहीं बड़ा, 60 फीट ऊँचाई का भी, बताया है। कुछ अन्य लोगों ने इसे एकल कास्टिंग (single casting) से बना हुआ बताया है, जबकि जोड़े के निशान स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। ये निशान संभवतः सुघट्य अवस्था में लोहे के पिंडों को घन-फोर्जन प्रक्रिया द्वारा जोड़ने के कारण बने हैं।

स्टीफेन ने 1876 में इस स्तंभ को पूरे विश्वास के साथ पिटवां लोहे का एक ठोस शाफ्ट कहा है, जबकि उस काल के अधिकतर पर्यटकों ने इसे मिश्रित धातु, पीतल, कांसा, मृदु लौह और ढलवां लोहे आदि से बना बताया है। भाऊ दाजी ने भी इसी काल में विशेष तौर पर कहा था कि इस स्मारक के किसी भी भाग में लोह नहीं



प्लेट 1 : लौह-स्तंभ और आसपास मंदिर के अवशेष



प्लेट 2 : कुतुब मीनार और लौह-स्तंभ

है और यह कई धातुओं के मिश्रण से बना है। परंतु स्टीफेन को इस बात की जानकारी थी कि जनरल कनिंघम के लिए डा. मरे टाम्पसन ने स्तंभ के एक छोटे से दुकड़े का विश्लेषण किया था। उन्हें निश्चित रूप से पता था कि इस स्तंभ में 7.66 सापेक्षिक घनत्व का आघात वर्धनीय लोहा है।

स्टीफेन (1876) और वी. ए. स्मिथ (1897) अपने विवरणों में स्तंभ के स्थान व माप के बारे में एकमत हैं। इस संदर्भ में स्मिथ के विस्तृत विवरण का पूर्ण उद्धरण प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा (प्लेट 1 व 2 को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए) :

कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा सन् 1191 में बनवाई गई तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा विस्तारित विशाल मस्जिद तथा उसकी प्रसिद्ध कुतुब मीनार रायपिथौरा किले की सीमा के अंदर हिंदू मंदिर के स्थल पर स्थित हैं। यह किला बारहवीं सदी के मध्य में अथवा उत्तरार्द्ध में दिल्ली के हिंदू नगर को मुसलमानों के आक्रमण से बचाने के लिए बनाया गया था। सन् 1191 में इस पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यह स्थल आधुनिक दिल्ली या शाहजहानाबाद से लगभग नौ मील दक्षिण में है और इसका कुछ भाग मिहरोली (जिसे आज मेहरोली कहा जाता है) गांव की जमीन पर खड़ा है। मेहरोली संभवतः मिहिरपुरी का अपभ्रंश है।

लौह—स्तंभ, मस्जिद के प्रांगण में, इसके बृहद् मेहराबों से लगभग दस गज की दूरी पर स्थित है। स्तंभ—शीर्ष के उच्चतम भाग से आधार के निम्नतम भाग तक की कुल लंबाई 23 फुट 8 इंच है। 22 फुट भाग भूमि के ऊपर है और केवल 1 फुट 8 इंच भाग भूमिगत है। इसका अनुमानित भार 6 टन से अधिक है। शाफ्ट का निचला व्यास 16.4 इंच व ऊपरी व्यास 12.05 इंच है और इसका घटाव 0.29 इंच प्रति फुट है। स्तंभ—शीर्ष घंटाकार है और इसकी ऊंचाई 3.5 फुट है।

स्तंभ का आधार कुछ—कुछ असमाकृति कंद (बल्ब) जैसा है, जिसका व्यास 2 फुट 4 इंच है। इसको लौह—छड़ों से निर्मित जालीदार ढांचे पर स्थिर किया गया है, जिसे फर्श के तराशे हुए पत्थर की ऊपरी सतह के साथ सीसे द्वारा जोड़ा गया है। कंद तराशे गए पत्थर की निचली सतह में प्रवेश नहीं करता है। अतः स्तंभ प्राचीन हिंदू फर्श की ऊपरी सतह और मुसलमानों द्वारा बिछाए गए पत्थरों की सतह पर टिका हुआ है। फर्श की सतह पर, आधार के चारों ओर, छोटे पत्थरों से हाल ही में निर्मित चबूतरे से इसे और दृढ़ता प्रदान की गई है।

स्तंभ—शीर्ष (प्लेट 3) सात भागों में बना है। बुधगुप्त के एरण स्थित एकाश्मक

(monolith) स्मारक—जैसी घंटाकार संरचना, एक पतली समतल चकती, तीन दांतेदार चकतियाँ, एक अन्य पतली समतल चकती और एक चौकोर खंड। ऐसे स्मारक से, जहाँ इसी प्रकार का चौकोर खंड मूर्ति के लिए आधार-मंच का काम करता है, इसकी समानता को देखते हुए स्पष्ट है कि प्रारंभ में इस लौह-स्तंभ पर विष्णु की प्रतिमा स्थापित थी और उसी देवता को यह स्तंभ समर्पित था। इस खंड का कोई अन्य अर्थ नहीं रह जाता है। किसी मूर्ति के निशानों की अनुपस्थिति इस बात से आसानी से समझी जा सकती है कि यह स्मारक अब एक मस्जिद की सीमा में स्थित है। लगभग इसी प्रकार के घंटाकार स्तंभ—शीर्ष गुप्तकाल व उससे बहुत पहले के अशोक काल के अन्य स्तंभों पर पाए जाते हैं।

अभिलेख की निचली रेखा स्तंभ के चबूतरे से ७ फुट २ इंच की ऊँचाई पर है। यह अभिलेख २ फुट ९.५ इंच चौड़ा व १०.५ इंच ऊँचा है। गहराई के साथ कटे हुए अक्षर अत्युत्तम अवस्था में हैं और, एक अपवाद को छोड़कर, इसका उत्कीर्णन सही है।

स्तंभ की निर्माण शैली (प्लेट 4) और अभिलेख के अक्षरों की बनावट का एक साथ अवलोकन करने से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि इस स्मारक का निर्माण गुप्तकाल में हुआ था। डा. फ्लीट के विचार से इस अभिलेख की लिखावट और इलाहाबाद के स्तंभ की समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की लिखावट में काफी अधिक समानता है। लौह-स्तंभ के अक्षरों की सुस्पष्ट ऊपरी रेखाएं भी, जो पहले परवर्ती काल की समझी जाती थीं, कुमारगुप्त के बिलसड़ अभिलेख में पाई जाती हैं।

स्तंभ से संबंधित आधुनिक आंकड़े

इस स्तंभ से संबंधित वैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ लब्धप्रतिष्ठ धातुविद सर रॉबर्ट हैडफील्ड के सन् १९१२ में ब्रिटिश आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट के जरनल में प्रकाशित महत्वपूर्ण लेख से होता है। गत ८० वर्षों में पश्चिमी व भारतीय वैज्ञानिकों ने इस सम्मानक स्मारक की, जिसे कई बार “धातुकीय पहेली” भी कहा गया है, प्रकृति (संघटन, संरचना आदि) का पता लगाने के लिए कई शोधकार्य किए हैं। हमारे देश में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) के अतिरिक्त, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद (CSIR) के अंतर्गत कार्यरत राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला (जमशेदपुर) व राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (नई दिल्ली) ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

सर हैडफील्ड के लिए सन् 1912 में सुश्री कमिंग्स द्वारा लिए गए स्तंभ के परिमाप निम्नलिखित हैं :

कुल लंबाई	23 फुट 8 इंच (7.21 मी.)
जमीन से ऊपर का भाग	22 फुट (6.71 मी.)
जमीन के नीचे का भाग	1 फुट 8 इंच (50.8 सेमी.)
ऊपरी व्यास (अलंकरण से नीचे)	12.5 इंच (31.8 सेमी.)
निचला व्यास	16.5 इंच (41.9 सेमी.)

सन् 1914 में पंचानन नियोगी द्वारा लिए गए माप इस प्रकार हैं :

कुल लंबाई	23 फुट 8 इंच (7.21 मी.)
आधार का व्यास	16.4 इंच (41.7 सेमी.)
स्तंभ-शीर्ष के नीचे का व्यास	12.05 इंच (30.6 सेमी.)
अलंकृत स्तंभ-शीर्षक	3 फुट 6 इंच (1.07 मी.)

ऐसा विश्वास था कि जमीन से कुछ इंच नीचे स्तंभ 2 फुट 4 इंच व्यास के कंद के आकार में विस्तृत हो जाता है। इसे लौह छड़ों के जाल पर स्थिर किया गया है और उसे पत्थर से निर्मित फर्श के साथ धात्विक सीसे (Pb) से जोड़ा गया है।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की शताब्दी के अवसर पर, 1961 में, स्तंभ को रासायनिक उपचार व परिरक्षण के लिए खोदकर निकाला गया। तत्पश्चात् इसके भूमिगत भाग को पत्थर के नवनिर्मित मंच में सुदृढ़ करके इसकी पुनः स्थापना की गई। उत्खनन के बाद पूरे स्तंभ (बाह्य भाग, भूमिगत भाग व शीर्ष) का प्रमुख पुरातात्विक रसायनविद् डा. बी.बी. लाल ने विस्तृत अध्ययन किया और स्तंभ की विभिन्न विमाओं को मापा गया। स्तंभ की सामान्य अवस्था के, विशेषकर संक्षारित व जंग लगे हुए भागों के, फोटोग्राफ लिए गए। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा किए गए मापन का विवरण इस प्रकार है :

स्तंभ की कुल लंबाई	23 फुट 6 इंच (7.16 मी.)
उठे मंच से नीचे का भूमिगत भाग	3 फुट 1 इंच (94.0 सेमी.)
स्तंभ का दृष्टिगत बेलनाकार भाग	17 फुट (5.18 मी.)
अलंकरणयुक्त स्तंभ-शीर्ष की ऊंचाई	3 फुट 5 इंच (1.04 मी.)
निचले भाग का व्यास (मंच के पास)	1 फुट 4.7 इंच (42.4 सेमी.)
ऊपरी भाग (स्तंभ-शीर्ष के नीचे)	
का व्यास	11.85 इंच (30.1 सेमी.)

स्तंभ-शीर्ष की ऊपरी

समतल वर्गाकार सतह

1' × 1' (30.5 सेमी. × 30.5 सेमी.)

स्तंभ के भूमिगत आधार का व्यास

2 फुट 0.59 इंच (62.5 सेमी.)

ऊपरी लौह-बेलन का व्यास

8 इंच (20.3 सेमी.)

ध्वजदंड हेतु खांचे की लंबाई

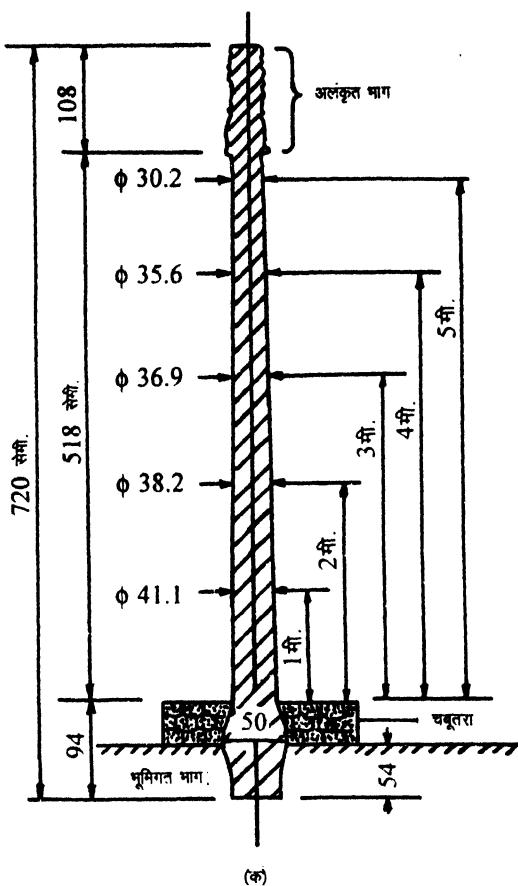
6 इंच (15.2 सेमी.)

ध्वजदंड हेतु खांचे की गहराई

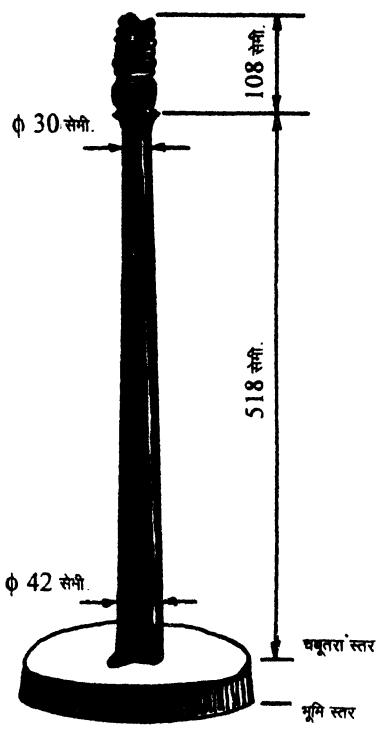
1.3 इंच (38.1 सेमी.)

सारणी 2 : मंच से ऊपर की विभिन्न ऊंचाइयों पर स्तंभ का व्यास

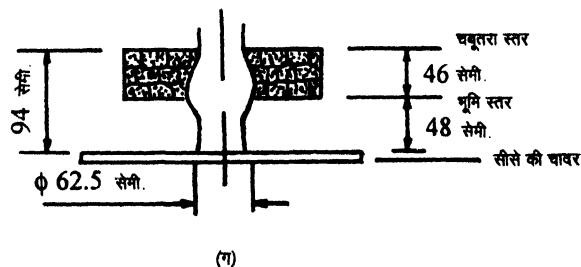
ऊंचाई (मी.)	चित्र 2 के अनुसार व्यास (सेमी.)			
	1	2	3	4
0.25	43.37	—	खुरदरी सतह	—
0.50	43.24	42.54	41.46	41.27
0.75	41.23	41.46	41.46	41.52
1.00	40.19	40.95	40.95	40.89
1.25	39.68	40.32	40.19	40.06
1.50	38.67	39.30	39.24	39.17
1.75	37.52	38.48	38.73	38.67
2.00	37.46	38.16	38.16	37.84
2.25	37.59	33.71	37.59	37.59
2.50	37.46	37.46	37.27	37.33
2.75	37.02	37.14	37.08	36.89
3.00	36.38	36.70	36.70	36.51
3.25	36.83	36.57	36.70	36.89
3.50	36.83	37.02	37.76	36.89
3.75	36.06	36.57	36.06	36.06
4.00	35.17	35.56	35.56	34.86
4.25	34.03	34.67	34.29	34.22
4.50	33.52	33.90	33.52	32.76
4.75	32.06	32.51	31.11	31.24
5.00	29.17	30.98	30.73	29.17



(क)



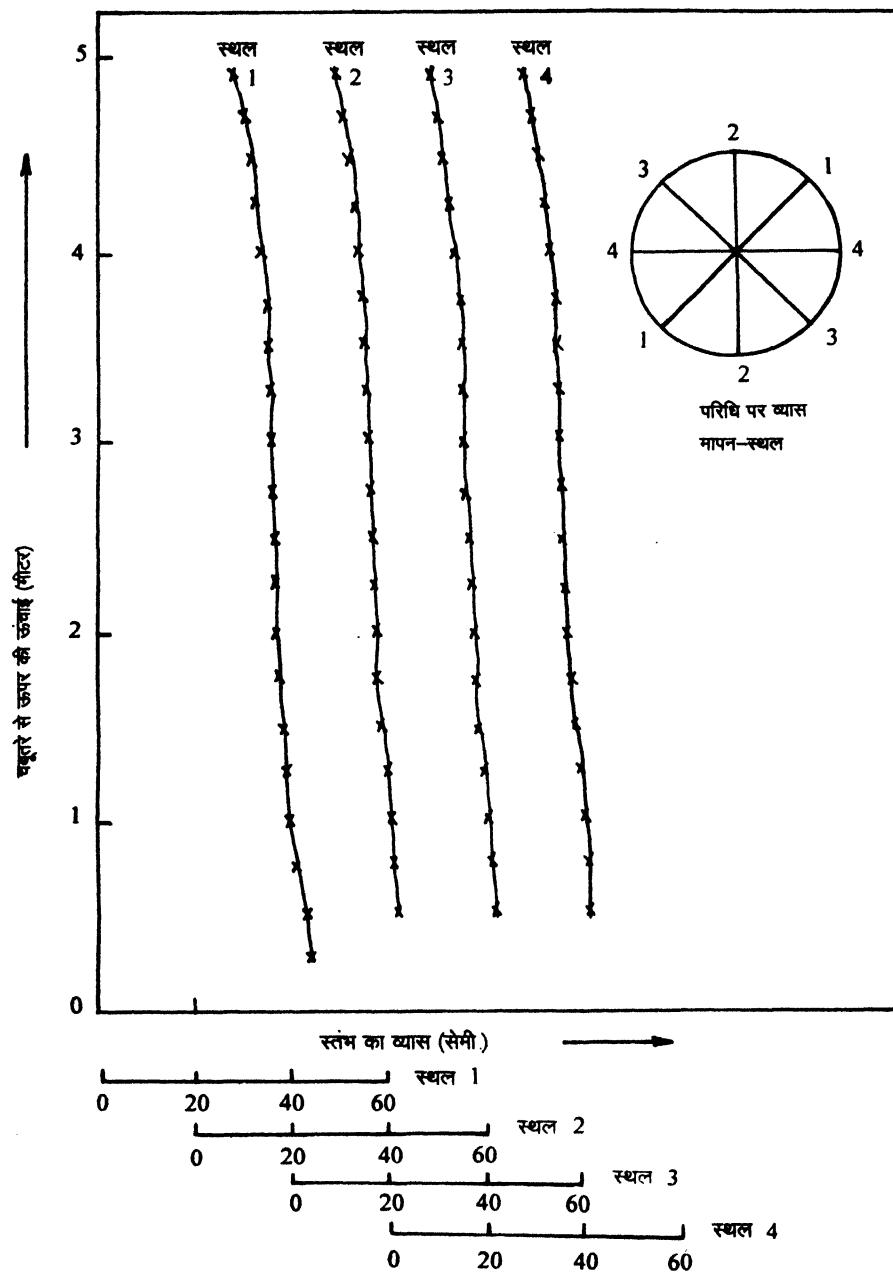
(ख)



(ग)

चित्र 2 : लौह-स्तंभ एवं उसके परिमाप

(क) स्तंभ का आरेख, (ख) दृश्य भाग, (ग) मंच के नीचे छिपा भाग
(बिंदल इत्यादि, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली, 1989, के सौजन्य से)



चित्र 3 : ऊँचाई के साथ स्तंभ के व्यास में विभिन्नता
(बिंदल इत्यादि, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली, 1989, के सौजन्य से)

स्तंभ-शीर्ष एक लौह निर्मित ठोस सिलिंडर है जिसे ऊपरी सिरे पर एक गहरे खांचे में बैठाया गया है। सिलिंडर का ऊपरी सिरा समतल वर्ग है जिसके मध्य लगभग 15.2 सेमी. लंबाई का आयताकार खांचा है जो प्रत्यक्ष रूप से ध्वजदंड की स्थापना के लिए बनाया गया है। चूंकि लगभग 38 सेमी. गहरा यह खांचा वातावरण के सीधे संपर्क में रहता है, इसलिए वर्षा का पानी और धूलिकण इसमें एकत्र होते रहते हैं। प्रांरभ में स्तंभ-भार छह टन से अधिक था। स्तंभ की विमाओं का आधुनिकतम, और संभवतः सबसे विस्तृत, मापन राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (नई दिल्ली) के बिंदल इत्यादि ने सन् 1989 में पराश्रव्य अविनाशी परीक्षणों की सहायता से किया है। चित्र 2 में विमाओं और चित्र 3 व सारणी 2 में बढ़ती ऊंचाई के साथ व्यास में होनेवाले परिवर्तनों को दर्शाया गया है।

सन् 1912 में हैडफील्ड से शुरू करके लौह-स्तंभ के छोटे नमूनों का कई बार रासायनिक विश्लेषण किया गया है। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण से संबद्ध मुख्य पुरातात्त्विक रसायनविद डा. बी. बी. लाल ने स्तंभ के नमूनों का विश्लेषण किया। उन्होंने पाया कि भारत सरकार के प्रमुख धातुकीय निरीक्षक की जमशेदपुर स्थित प्रयोगशाला में सन् 1945 में प्राप्त परिणामों में और 30 साल पहले के हैडफील्ड के विश्लेषण में काफी समानता थी। सन् 1963 के आसपास लौह-स्तंभ के एक और भाग से लगभग चार ग्राम का टुकड़ा लिया गया और राष्ट्रीय धातुकीय प्रयोगशाला (जमशेदपुर) के निदेशक डा. बी. आर. निझावन की पहल पर उसका रासायनिक, वर्णक्रम-रासायनिक व इलेक्ट्रॉन-प्रोब विश्लेषण किया गया। यद्यपि कार्बन, सिलिकान व फास्फोरस की प्रतिशत मात्रा (सारणी 3) में भिन्नता मिलती है, तथापि यह स्पष्ट है कि स्तंभ का लौह अत्यधिक शुद्ध है। आज के कई प्रकार के वाणिज्यिक लौह की तुलना में इस स्तंभ के लौह में कार्बन की मात्रा काफी कम है।

प्रचलित किंवदंतियां

यद्यपि विशुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन केवल तथ्यों व आंकड़ों पर ही आधारित होना चाहिए, परंतु इससे संबंधित किंवदंतिया, न केवल रोचक हैं, बल्कि उनका यहां वर्णन करना युक्तिसंगत भी है। यहां यह बताना भी आवश्यक है कि स्थानीय लोग इस स्तंभ को “लोहे की लाट” के नाम से जानते थे और, उन्नीसवीं सदी के बहुत सारे संदेहों के बावजूद, वैज्ञानिक अध्ययनों ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

सर्वमान्य परंपरा के अनुसार, जैसाकि कनिंघम ने भी कहा है, वर्तमान स्थान पर इस लौह-स्तंभ की स्थापना बिलनदेव अथवा तोमर वंश के संस्थापक अनंगपाल द्वारा की गई थी। अनंगपाल को एक विद्वान ब्राह्मण ने विश्वास दिलाया था कि स्तंभ

के निचले सिरे को जमीन में इतना गहरा गाड़ा गया है कि वह पौराणिक कथाओं के अनुसार इस धरती को धारण करनेवाले नागराज वासुकि के सिर पर स्थित है। इसलिए यह स्तंभ अटल है। जब तक यह स्तंभ खड़ा रहेगा, तब तक राज्य उसके परिवार के अधिकार में ही रहेगा। परंतु राजा ने ब्राह्मण के कथन पर विश्वास न करके स्तंभ को खोदने का आदेश दे दिया। ऐसा करने पर स्तंभ का निचला सिरा, जिसने नागराज के सिर को वेध रखा था, उसके खून से लथपथ पाया गया। अपने अविश्वास पर पश्चाताप करते हुए उसने लौह-स्तंभ को दोबारा स्थापित किया। परन्तु राजा के आरंभिक संदेह के कारण स्तंभ को पूर्णतः स्थिर करने की प्रत्येक योजना विफल रही और इन सभी प्रयासों के बावजूद स्तंभ जमीन में ढीला ही रहा। ऐसी मान्यता है कि इस ढीली किल्ली यानी ढीले स्तंभ के कारण ही प्राचीन शहर का नाम दिल्ली या दिल्ली पड़ा। वास्तव में, लालकोट में लौह-स्तंभ के आसपास के स्थान पर उत्खनन में 11 वीं सदी के मध्य में तोमर राजवंश के अनंगपाल-द्वितीय द्वारा निर्मित प्रथम दिल्ली शहर के संरचनात्मक अवशेष मिले हैं। पुरातत्व सर्वेक्षण ने यह उत्खनन-कार्य फरवरी 1992 में आरंभ किया था। इसे एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है।

सारणी 3 : स्तंभ के निचले भाग की धातु का रासायनिक विश्लेषण (भार %)

तत्व	हैडफील्ड (1912)	लाल (1945)	घोष (1963)	लाहिड़ी (1963)
कार्बन (C)	0.08	0.09	0.23	0.28
सिलिकान (Si)	0.046	0.048	0.026	0.056
फास्फोरस (P)	0.114	0.174	0.180	0.155
मैंगनीज (Mn)	—	—	—	—
सल्फर (S)	0.006	0.007	लेशमात्र	0.003
नाइट्रोजन (N)	0.032	—	0.007	—
तांबा (Cu)	0.034	—	—	—
कुल लौह (Fe)	99.72	99.67	99.77	—
विशिष्ट गुरुत्व	7.81	—	7.67	7.50

इस किंवदंती को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग तरह से पेश किया है, परंतु प्रमुख बातें वही हैं। कर्नल टॉड ने कहा है कि लौह-स्तंभ शेषनाग के सिर पर स्थिर है।

शेषनाग, नागराज वासुकि ही है। सन् 1804 और 1814 के बीच दिल्ली का भ्रमण करने आई एक महिला पर्यटक ने इसी बात को दूसरे ढंग से सुना। एक ब्राह्मण ने राजा से कहा कि यदि वे अपने राज्य की राजधानी (सिंहासन) पृथ्वी को धारण करने वाले नागराज के सिर पर बनाने में सफल हो गए, तो उनका राज्य सदैव बना रहेगा। ब्राह्मण ने अपने निरीक्षण में भाग्यशाली स्थान को ढूँढ़ा तथा लौह-स्तंभ को वर्तमान स्थान पर जमीन में स्थिर कर दिया गया। ब्राह्मण से ईर्ष्या रखनेवाले एक दरबारी ने राजा से कहा कि स्तंभ की स्थापना नागराज के सिर पर नहीं की गई है। परंतु वह राजा को सही स्थान, जो उसने स्वप्नावस्था में देखा है, बता सकता है। राजा के निर्देशानुसार स्तंभ को बाहर निकाला गया तो ब्राह्मण के कथनानुसार स्तंभ का निचला सिरा सर्प के सिर के खून से लथपथ पाया गया।

मुगल बादशाह जहांगीर व शाहजहां के शासनकाल में भारत-भ्रमण को आए अंग्रेज पर्यटकों के विवरण के आधार पर यह किंवदंती पुरकास की पुस्तक पिलग्रिमेज में कुछ विकृत रूप में उपलब्ध है। जिस राजा ने दिल्ली को बसाया उसने अपने जादूगरों की सलाह पर लोहे के खंभे को जमीन में ठोका। बाहर निकालने पर उसके ऊपर सांप का खून पाया गया। पंडितों ने इसे भाग्यशाली चिह्न बताया। लौह-स्तंभ की स्थापना की इन किंवदंतियों में मुख्य बातें पूर्ववत ही हैं। इस सामान्य विश्वास की पुष्टि दो प्रसिद्ध पंक्तियों द्वारा होती है :

किल्ली तो ढिल्ली भयी
तोमर भया मतहीन

अर्थात्, स्तंभ ढीला हो गया है; तोमर की इच्छा पूरी नहीं होगी।

इस किंवदंती का मूल क्या है और यह कब प्रारंभ हुई, इस बात का संभवतः कभी भी पता नहीं चलेगा। फिर भी, हमारा यह अनुमान लगाना उचित होगा कि तोमर राजवंश के लंबे शासनकाल के दौरान ही इस कथन को बल मिला होगा और तत्पश्चात लौह-स्तंभ की स्थिरता के साथ मिलाकर इसे मान्यता मिली होगी। ऐसा ही एक उद्धरण रोम व कोलिजियम के संबंध में है जिसे बायरन की इन काव्य-पंक्तियों से प्रसिद्धि मिली है :

जब तक कोलिजियम है, रोम टिका रहेगा;
कोलिजियम गिरेगा, रोम भी नष्ट हो जाएगा।

अध्याय 2

अभिलेख

दिल्ली के लौह-स्तंभ पर कई अभिलेख उत्कीर्ण हैं। परंतु उनमें इसके ऊपरी भाग पर खुदा हुआ छह पंक्तियों का संस्कृत अभिलेख अत्यंत महत्वपूर्ण और प्राचीनतम है। यह अभिलेख गुप्तकालीन पुरानी ब्राह्मी लिपि में है, जो आज पूर्णतया अप्रचलित है। यद्यपि जेस्स प्रिसेप द्वारा सन् 1838 में इस स्तंभ पर किए गए प्रारंभिक उद्घाटन-प्रयास में ही इस अभिलेख का पठन व अनुवाद किया जा चुका था, तथापि इसके कई पहलू अभी तक रहस्यपूर्ण व विवादास्पद बने हुए हैं। अभिलेख पर कोई तिथि अंकित नहीं है, परंतु इसमें 'चंद्र' नाम के एक शक्तिशाली राजा की विजयों का उल्लेख है। अभिलेख में इस महान शासक के राजवंश संबंधी विवरण के अभाव में उसके सही परिचय व राज्यकाल के बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। पुरालिपि-विज्ञान, विषय-वस्तु, भाषा व अक्षर-शैली आदि के आधार पर अधिकतर विद्वानों की राय है कि यह स्तंभ गुप्तकाल के आरंभ अर्थात् चौथी सदी के उत्तरार्द्ध या पांचवीं सदी के पूर्वार्द्ध का है। फिर भी, इसमें अनेक अनिश्चितताएं व विचारणीय पहलू हैं जिन पर अगले अध्याय में विस्तृत चर्चा की जाएगी।

इलाहाबाद प्रस्तर-स्तंभ के महत्वपूर्ण शिलालेख का, जो दिल्ली-स्तंभ के अभिलेख से कम रहस्यपूर्ण है, यहां उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। इस शिलालेख में गुप्तकाल के प्रारंभिक शासक समुद्रगुप्त की गौरवगाथा, वंशावली व विजयों का ही वर्णन है (सारणी 4)। बलुआ पत्थर के इस अखंड गोलाकार स्तंभ पर उत्कीर्ण 33 पंक्तियों की प्रशस्ति 35 फुट ऊंची है। पर यह स्तंभ ई. पू. तीसरी सदी का है। यह बात इस पर खुदे सम्राट अशोक के प्रसिद्ध धर्मादेशों से स्पष्ट होती है। आज यह उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के किले के अंदर एक विशिष्ट स्थान पर स्थित है। यद्यपि इस शिलालेख का ऊपरी भाग क्षतिग्रस्त हो चुका है, तथापि इतिहास व वंशावली संबंधी तथ्यों (19 वीं पंक्ति से 30 वीं पंक्ति तक) वाला महत्वपूर्ण भाग आज भी अत्युत्तम अवस्था में है और इसे आरंभ से अंत तक, बिना किसी संदेह के, मजे से पढ़ा जा सकता है। यह शिलालेख भी गुप्त ब्राह्मी लिपि में है, और कई प्रकार से इसकी लिखावट दिल्ली के

लौह-स्तंभ से मिलती-जुलती है। दिल्ली लौह-स्तंभ के अभिलेख में वर्णित शासक समुद्रगुप्त है या उसका पुत्र चंद्रगुप्त-द्वितीय है, इस विवाद के संदर्भ में दिल्ली व इलाहाबाद के स्तंभों की लिखावट में समानता का महत्व और भी बढ़ जाता है।

सारणी 4 : प्रसिद्ध गुप्त राजाओं की वंशावली

चंद्रगुप्त-प्रथम

(विक्रम-प्रथम या विक्रमादित्य-प्रथम)

महाराजाधिराज

विवाह लिच्छवि परिवार की कुमारदेवी से हुआ

(320-340 ई.)



समुद्रगुप्त

(काच)

महाराजाधिराज

विवाह दत्तादेवी से हुआ

(340-376 ई.)



चंद्रगुप्त-द्वितीय

(विक्रम-द्वितीय, विक्रमादित्य-द्वितीय या विक्रमाक)

परमभट्टारक और महाराजाधिराज

विवाह ध्रुवदेवी से हुआ

(376-414 ई.)



कुमारगुप्त-प्रथम

(महेंद्र या महेंद्रादित्य)

महाराजाधिराज

विवाह अनंतदेवी से हुआ

(414-455 ई.)



स्कंदगुप्त

(क्रमादित्य)

परमभट्टारक और महाराजाधिराज

(455-467 ई.)

राजा चंद्र से संबंधित अभिलेख

दिल्ली-स्तंभ के अभिलेख का निरीक्षण करने वाले लगभग सभी विद्वानों ने यह टिप्पणी की है कि जंग-रहित व समरूप लोहे के आधार के कारण इसकी पूरी लिखावट अत्युत्तम अवस्था में है। छह पंक्तियों के अभिलेख ने 2 फुट 9.5 इंच चौड़ी और 1.05 इंच ऊंची जगह धेरी है। इसकी निचली पंक्ति, स्तंभ के निचले भाग के चारों ओर निर्मित पत्थर के चबूतरे से लगभग 7 फुट 2 इंच ऊपर है। अक्षरों का माप 0.3-0.5 इंच का है और उत्कीर्णन, कुल मिलाकर, बहुत अच्छा है (प्लेट 5)। फिर भी कुछ रेखाओं के ऊपर धातु-परते आ गई हैं। फलस्वरूप, लिथोग्राफ में कुछ अक्षर देखने में विकृत नजर आते हैं (चित्र 4)।

फ्लीट ने सन् 1888 में इस बात का उल्लेख किया है कि इस अभिलेख के अक्षर उत्तरी शैली की वर्णभाला से संबंध रखते हैं। लौह जैसे कठोर पदार्थ पर की गई खुदाई के फलस्वरूप इस स्तंभ के अक्षरों में दृढ़ता है। इलाहाबाद स्थित स्तंभ पर खुदे समुद्रगुप्त संबंधी शिलालेख और इस अभिलेख में काफी समानताएं हैं। दोनों अभिलेखों की पहचान के लिए अक्षरों के ऊपर की क्षैतिज रेखाओं पर अंकित मात्राओं को ध्यान से देखना होगा, जो उत्तर प्रदेश के एटा जिले में कुमारगुप्त के बिलसड़ स्तंभ-शिलालेख से मिलती-जुलती हैं। बिलसड़ स्तंभ-लेख का समय 415-416 ई. आंका गया है।

फ्लीट ने 100 वर्ष पूर्व इस लेख का पाठ और उसका अनुवाद इस प्रकार दिया है :

लेख

1. यस्योद्वत्तर्यतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्
वंगेष्वाहवर्त्तिनोऽभिलिखिता खड़गेन कीर्त्तभुजे ।
2. तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिंधोर्जिर्जता वाह्निका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वर्यार्यानिलैर्दक्षिणः ॥
3. खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गमाश्रितस्येतरां
मूर्या कर्मजितावनिं गतवतः कीर्त्यर्या स्थितस्य क्षितौ ।
4. शांतस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा-
न्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्लस्य शेषः क्षितिम् ॥
5. प्राप्तेन स्वभुजाज्जिर्तंच सुचिरंचैकाधिराज्यं क्षितौ
चंद्राह्वेन समग्रचंद्रसदृशीं वक्त्रश्रियं विश्रता ।

6. तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णौ मतिं
प्रान्मुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतौ विष्णौर्ध्वजः स्थापितः ॥

अनुवाद

- जिसकी भुजा पर, वंग देश में संयुक्त रूप से युद्ध में आए हुए शत्रुओं को अपने पौरुष से पीछे की ओर खदेड़ते हुए, तलवार द्वारा कीर्ति अंकित की गई।
- जिसने सिंधु नदी के सात मुखों को पार कर (युद्ध में) वाह्निकों को जीता, जिसके शौर्यानिल से दक्षिणी महासागर आज तक सुवासित है।
- श्रान्त सा होकर और पृथ्वी को छोड़कर वह अपने कर्म से अर्जित अन्य लोक को गया, किंतु अपनी कीर्ति से इहलोक में स्थित है।
- विशाल बन में शांत रूप स्थित दावानल की भाँति, जिसने शत्रुओं का सम्पूर्ण विनाश किया। उसका यलावशेष रूपी महान प्रताप आज तक पृथ्वी पर शोष है।
- अपनी बाहुओं द्वारा अर्जित, दीर्घकाल तक पृथ्वी पर एकाधिराज्य प्राप्त करने वाले चन्द्राख्य, चन्द्रसदृश मुखश्री धारण करने वाले,
- राजा द्वारा भक्तिपूर्वक विष्णु का यह विष्णुध्वज-स्तंभ विष्णुपद पर्वत पर स्थापित किया गया।

कुछ वर्ष बाद, वी. ए. स्मिथ ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया :

भगवान विष्णु के अनन्य भक्त राजा चंद्र ने विष्णुपद पर्वत पर उस उत्तुंग विष्णु ध्वज की स्थापना की थी। उस राजा के मुख पर पूर्णिमा के चंद्र की कांति का सौंदर्य था। उसने अपने बाहुबल से विश्वव्यापी एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की थी और बहुत समय तक उस पर उसका आधिपत्य बना रहा। यद्यपि वह आज इहलोक में नहीं, परलोक में है, तथापि शत्रु का विनाश करने वाली उसकी शक्ति की चमक आज भी दावानल के अंगारों की भाँति इस धरती पर विद्यमान है। उसके शौर्य की गाथाओं से दक्षिण महासागर आज भी सुगंधित है। सिंधु नदी के सात मुखों को पार करके उसने युद्ध में वाह्निकों को परास्त किया और वंग देशों में अपने शत्रुओं के समूह का विनाश करके अपनी तलवार की ताकत से ख्याति प्राप्त की।

अभिलेख में पाठांतर

अभिलेख का संस्कृत मूलपाठ पहले प्रिंसेप द्वारा सन् 1838 में और बाद में भाऊ दाजी द्वारा सन् 1875 में प्रकाशित किया गया। नागरी वर्णमाला में इस पाठ को

चित्र 4 : लौह-संभ का मुख्य अधिलेख (मेहरोली प्रशासनि)

चित्र 5 में उद्धृत किया गया है। दोनों पाठों में मुख्य अंतर अंतिम से पहली पंक्ति के एक शब्द में है जिसे प्रिंसेप ने धावेन और भाऊ दाजी ने भावेन कहा है। प्रिंसेप का मत था कि राजा चंद्र का एक और नाम धाव था। परंतु आज अधिकतर विद्वान् भाऊ दाजी से सहमत हैं, क्योंकि अभिलेख में अन्य पांच ध इससे भिन्न हैं। इसलिए अभिलेख में यह अक्षर वस्तुतः भ है। इस गलती का कारण यह है कि खुदाई करने वाले औजार की थोड़ी सी चूक भ की आकृति को ध जैसी बनाने के लिए पर्याप्त थी। भवित्व का द्योतक भाव शब्द, धाव अर्थात् सफाई करना, धोना या चमकाना से, यहां पर अधिक संगत लगता है।

अभिलेख की दूसरी पंक्ति में राजा चंद्र द्वारा वाहिकों पर विजय पाने का संदर्भ है। प्रिंसेप ने इसे वाहिक, परंतु भाऊ दाजी ने बाहिक पढ़ा है। आज के विद्वानों के विचार में, यहां प्रिंसेप ठीक था। पूर्णता की दृष्टि से श्रीराम गोयल द्वारा सन् 1984 में दिया गया संस्कृत पाठ व उसका रोमन लिप्यतरण चित्र 6 में दिया गया है।
1 जनवरी, 1903 को स्तंभ के पास स्थापित शिलापट्टों की पाठ्य-सामग्री प्लेट 6 में दी गई है।

अन्य अभिलेख

बाद के सालों में लौह-स्तंभ पर बहुत सारे अभिलेख अंकित किए गए। आश्चर्य की बात यह है कि इनमें सर्वप्रथम अभिलेख 1052 ई. का यानी राजा चंद्र के प्रशस्ति-अभिलेख से 600 वर्ष बाद का है। स्मिथ का सन् 1897 में भी यह मत था कि लौह-स्तंभ प्रारंभ में कहीं और, संभवतः मथुरा के पास, स्थापित किया गया था और ग्यारहवीं सदी में वर्तमान स्थान पर इसका स्थानांतरण किया गया। वह एक 'प्रमाणित व निश्चित तथ्य' का संदर्भ देते हुए कहते हैं कि राजा अनंगपाल ने राय पिथौरा किले में और इसके आसपास सुसज्जित मंदिरों के समूह सहित एक शहर (पुरानी दिल्ली) का निर्माण ग्यारहवीं सदी के मध्य में किया। उनके विचार से यह निष्कर्ष तर्कसंगत है कि स्वयं अनंगपाल ने ही इस लौह-स्तंभ की वर्तमान स्थान पर स्थापना की और इस पर शहर के स्थापना-वर्ष 1052 ई. में एक छोटा सा अभिलेख अंकित कर दिया। अतः स्तंभ के मूल स्थान और उसके छह सदियों के इतिहास के संबंध में अब भी काफी अनिश्चितता है।

दूसरे अभिलेखों में एक छोटा फारसी अभिलेख 1556 ई. का है और इसमें इजरायल के बेटे अली असगर हुसैन का नाम अंकित है। दो और अभिलेख नागरी अक्षरों में 1515 ई. व 1523 ई. के हैं, परंतु इनसे कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है। शेष तीन अभिलेख भी नागरी में हैं जिनका कुछ ऐतिहासिक महत्व है। इनमें

ऐनः कर्मणः प्राणाणां। नान् शब्दुनगेत्यागान्देः
ध्याहृववर्तिनोविलिरिवतारवद्देनकीर्तिर्भुजे । १
तीर्त्यासप्तमुखाधिपेनसमं गिर्चोर्जितावालिका य
स्या द्याप्तादिवास्यं तेजनविधिर्वर्ण्या निर्गदेत्तिरा ॥१२

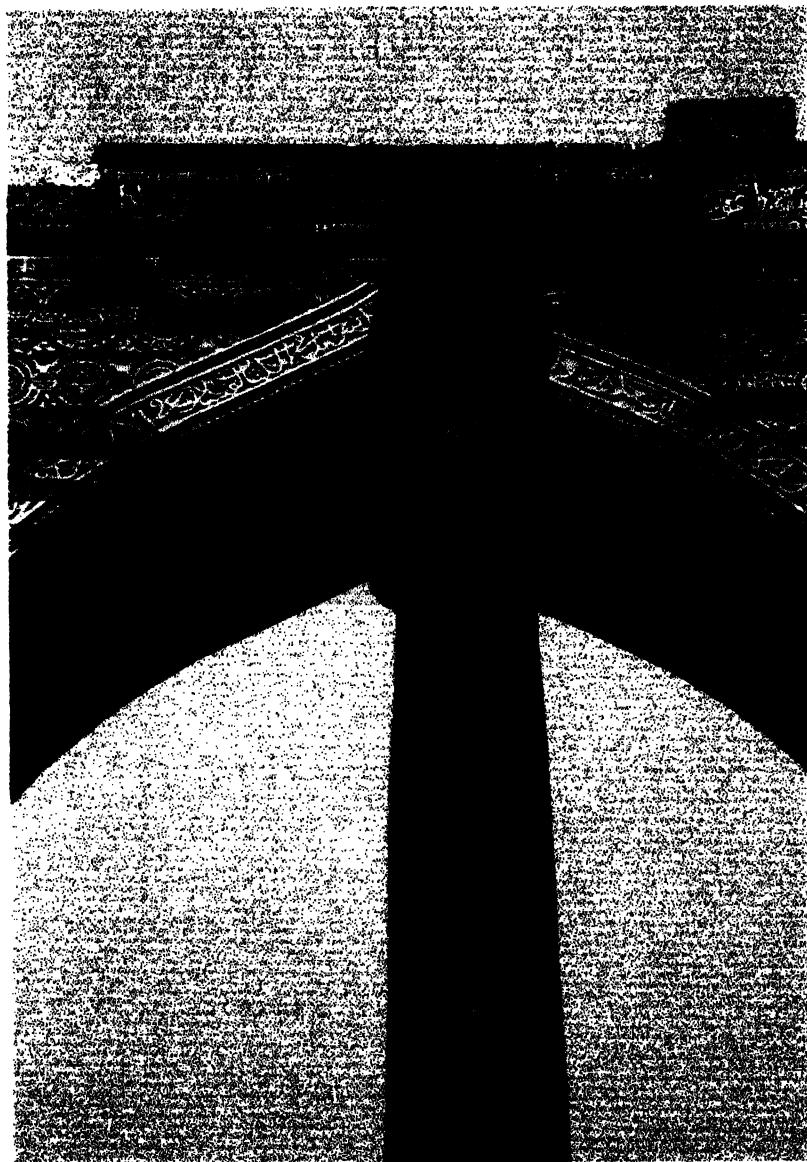
सिहैस्येवमित्यग्ननरपतेर्गाग्ना विनयोन्तरं सूर्त्याका
र्भचितायनिर्पुर्तवतः विर्यारिथतस्यन्दितो । ३

शातस्यवमहावजे रुत्तमुंजे यस्य प्रतापोमहा नायः पुत्रं
वर्तीप्ररागाविनागिषोर्यजस्पलोषः द्विती ॥१३॥ ४

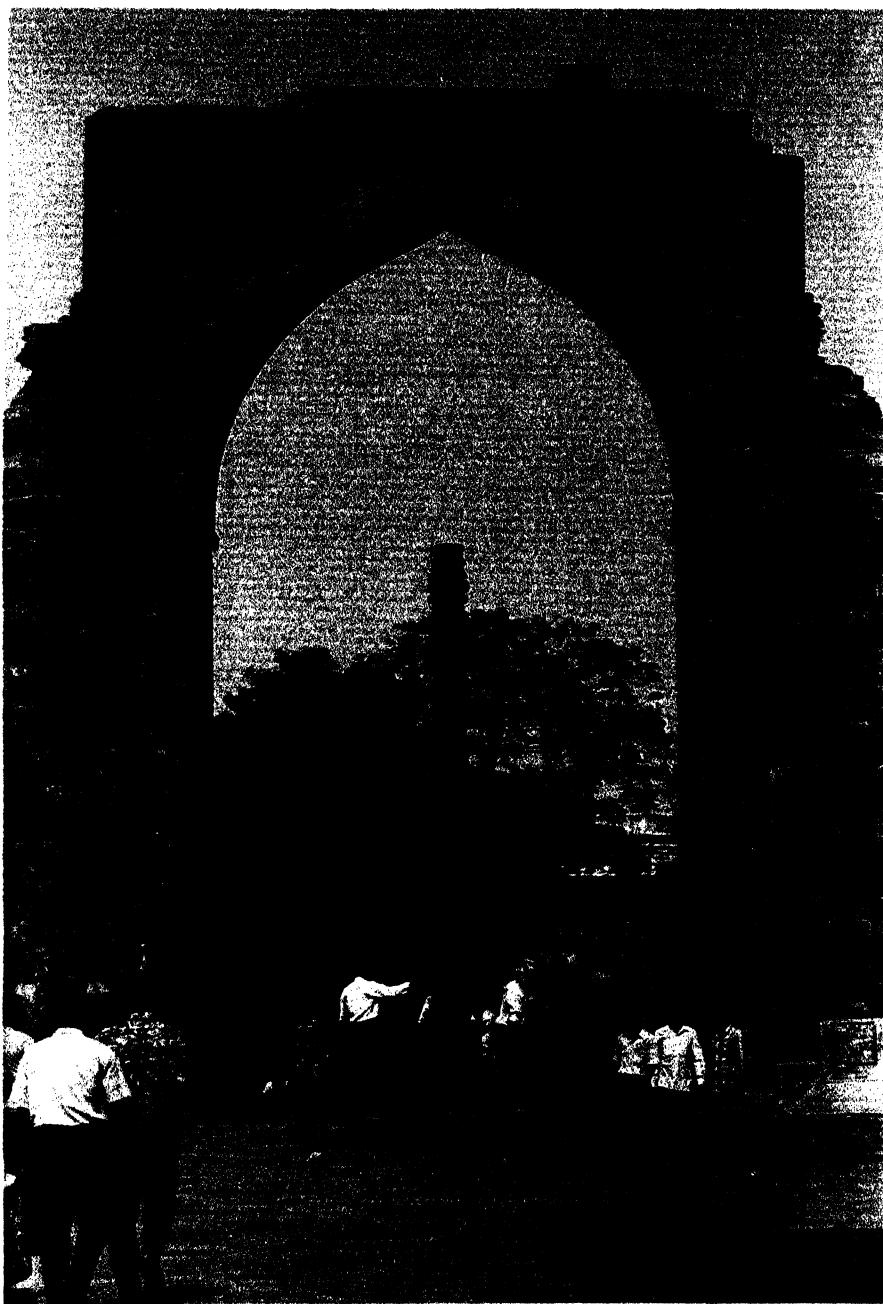
प्राप्तेनस्यभुजार्जितच्चमुयिरन्तेकापिरात्यहितो धनु
र्करासमग्र चन्द्रसृष्टीं भृत्यश्रियविभ्रता । ५

नेनायंप्रसिद्धायप्रभूमिपर्तीनोवावेनविष्टोमति प्रातः
भुवियुपुपदेशिरोभगवतो वष्टोर्भुजः स्यपितः ॥१४॥

यस्योदृत्यपाः पर्तीप्रभु रुद्यः शब्दुनमेत्यागता -
नदेः ध्याहृववर्तिनोविलिरिवतारवद्देनकीर्तिर्भुजे
तीर्त्यासप्तमुखानियेनसगो सिन्धोडितावालिका
यस्याद्याप्तपिवास्यतेजलनिपिवीर्या निलैद्वैद्विरा:
विन्नस्येवविद्युज्यगांनरपतेर्गामावितस्येन ए
सूर्त्याकर्भचितावनीं गतवतः कर्त्तर्पित्यनस्यद्वितो
गान्नस्येव महावनेऽन्तभुजो यस्य प्रतापोमहा
नायाप्तुत्तरजनिप्ररागाविनागिषोर्यजस्पलोषः किंतो
प्राप्तेनस्यभुजार्जितच्चभुविरवेकापिरात्यद्विती,
वंद्रत्तेनसमग्र चन्द्रसृष्टीं वज्रश्रियं विभ्रता
तेनायप्रसिद्धायप्रभूमिपर्तीनाभावेनविष्टोमति
प्राशुर्विष्णुपदेशिरोभगवतो विष्टोर्भुजः स्यपितः



प्लेट 3 : लौह-स्तंभ का शीर्षयुक्त ऊपरी भाग



स्लोट 4 : लौह-स्तंभ तथा प्रशासक पर्यटक

- १ य[स्यो]द्वितीयतः प्रतीपम्[र]जा शकुन्समेत्यागता-
न्वङ्गेवाहव-र्त्तिनो(८*)भिलिखिता खड्गेन कीति|र्भुजे (१*)
 - २ तीव्रा राप्त गुणानि गेन [स] ग[र]यिण्ठोजिंता[व]ज्ञिका
यस्पाद्याप्यधिवास्थते जलनिधिर्वर्त्यानिलंहृक्षिणः (१*) १
 - ३ ।षिः चरयेव विभृजग गां गरपतेमार्पाधितस्येतरां
गूर्वा वार्यं-जितावनि गतयतः कीर्त्या स्थितःस्य धितो (१*)
 - ४ णान्तस्येव महावने हुतशुजो गस्य प्रतापो महा-
तायाम्युत्तम्यजति प्रणाशित-रिपाय्यंलस्य शेषः धितिभृ (१*) २
 - ५ प्रादेन्दन्तस्य-मुजाजिंतच रुचरचन्नंकाधिराजं धितो
चन्द्राक्षेन रापग-चन्द्र-सदृशी वगत्त-धियं विभ्रता (१*)
 - ६ तेनापां प्रणिधाय भूमि-पतिनी पावेन विष्णो गति
प्राप्तिविष्टाप्यदे ॥१॥ गवयतो विष्णोदर्घजः स्वापितः (१*) ३

[Metre: *Sardulavikridita* throughout]

- 1 वृत्तयाताह् प्रतिपम्-उरसा॑ शत्रु॒न्-समेत्य-अगतान्-
व॑ इग॒ह्य अहवा॑-वर्त्तिनो॑ भ्लिक्षिता॑ क्षद्गेना॑ कृत्ति॑-भ्लि॑ जे॑ [१*]
 - 2 तित्वे॑ सोप्ता॑ मुखानी॑ येना॑ समाते॑ सिंधौ॑-जिता॑ वाह्लिका॑ यस्य-
आ॑ ल्य-अ॒प्य आ॒लाव॒यस्या॑ जलानिधि॑-व्विर्य्य-अ॒निल॑ ई॒द्दक्षिणा॑ [२*]
 - 3 खिन्नस्य-॒व॑ विश्वा॑ गाम॑ नारपते॑-ग्गाम-॒श्रितस्य-॒ एतरामा॑
मृत्ति॑ या॑ कामा॑-जित-॒ अवानी॑ गतवाताह् कृत्ति॑ या॑ स्थितस्या॑
क्षिताउ॑ [३*]
 - 4 शंतस्य-॒ ए॑ महावाने॑ हुताभ्युजो॑ यस्या॑ प्रतापो॑ महान्-॒ न-अ॒द्य-
अ॒प्य-॒ उत्स्फ॑ गति॑ प्राप्ताश्चि॑-ति॑ रो॑-य्यत्नस्या॑ शेषह॑ क्षिति॑म् [३ २*]
 - 5 प्राप्तेना॑ स्वा॑-भुज-॒ अ॒र्जि॑-ता॑-चा॑ सुचितान्-॒ च-॒ आ॒काद्धि॑-अ॒यान॑
क्षिताउ॑ चान्द्र-॒ अ॒ह्वेना॑ समाग्रा॑-चान्द्रा॑-सद॒प्ति॑ व॒क्त्रा॑-
श्रियान् बिभ्रता॑ [४*]
 - 6 तेन-॒ अयान॑ प्राप्तिद्धाया॑ भूमिपति॑ ध्वेना॑ विश्वो॑ इति॑ इति॑
प्राप्ति॑-विश्व॒पदे॑ गिरा॑ भगवातो॑ विश्व॒यो॑-ध्वजा॑-
स्थापिता॑ [५ ३*]

चित्र 6 : मेहरोली प्रशस्ति का गोयल का पाठ और उसका रोमन में लिप्यंतरण

से एक स्तंभ के दक्षिण-पूर्वी फलक पर, चबूतरे के ऊपरी भाग से चार फुट ऊपर उत्कीर्ण है। इसमें छह पंक्तियाँ हैं। उनमें लिखा है कि चंद्रेरी का बुंदेला राजा महाराजाधिराज दुर्गार्जन सिंह, जो महान राजा देवीसिंह का नाती और दुर्गासिंह का पुत्र था, संवत् 1767 (1710 ई.) के आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी को शनिवार के दिन यहाँ आया था। इस स्थान पर भविष्य में आने वाले राजाओं के अभिवादन की उसकी इच्छा भी इनमें अंकित की गई है। त्रिभुवनराय नामक व्यक्ति ने यह अभिलेख अंकित किया है। इसके बाद सुल्तानपुर के किसी इंद्रजीत नाम के व्यक्ति का उल्लेख है जिसने संभवतः अभिलेख की खुदाई का काम किया होगा। इस राजा के पुरानी दिल्ली आने के प्रयोजन की जानकारी काफी लाभदायक हो सकती थी, परंतु इस संबंध में कोई सूचना नहीं मिलती। यह बात भी प्रासंगिक है कि देवगढ़ (उत्तर प्रदेश) के नरघाटी स्थान पर उत्कीर्ण संवत् 1789 (1732 ई.) के एक नागरी लिपि के अभिलेख में इसी राजा के नाम व उसकी वंशावली का उल्लेख आता है।

स्तंभ के दक्षिण-पूर्वी फलक पर साथ-साथ में और दूसरे अभिलेख भी उकेरे गए हैं। बाईं ओर के अभिलेख का प्रमुख भाग एक पंक्ति का है। बाद वाला अभिलेख, जिसका पहले जिक्र किया जा चुका है, संवत् दिल्ली 1109 अंगपाल वादि शब्दों से शुरू होता है और इसके अक्षरों की बनावट से ऐसा लगता है कि इसे इस अभिलेख में लिखे हुए वर्ष 1052 में ही खोदा गया है। यद्यपि पहली बार देखने से लगता है कि शेष लिखावट पहले भाग का विस्तार है, परंतु वास्तव में यह अंकन 774 वर्ष बाद में किया गया है। इसमें संवत् 1883 (1826 ई.) में छत्रसिंहजी चौहान की यात्रा का उल्लेख आता है। इससे यह जानकारी भी प्राप्त होती है कि संवत् 1151 (1094 ई.) में पृथ्वीराज हुआ और उसकी तेईसवीं पीढ़ी का वंशज महारावजी छत्रसिंहजी हुआ। एक और अभिलेख के अनुसार संवत् 419 (362 ई.) में तुवर (तोमर) राजवंश में अंगपाल नाम का एक राजा हुआ और संवत् 648 (591 ई.) में कोई वासुदेव चौहान राजा इंद्र हुआ। संवत् 1151 (1094 ई.) में इस राजा इंद्र की इक्कीसवीं पीढ़ी में पृथ्वीराज हुआ और उसकी अड्डाइसवीं पीढ़ी में, संवत् 1888 (1831 ई.) में, राजा छत्रसिंह हुआ। इन विभिन्न अभिलेखों में केवल संवत् 1109 (1052 ई.) की अनंगपाल से संबंधित तिथि ही महत्व रखती है। सन् 1827 से 1832 के बीच स्मृति से लिखी गई शेष जानकारी सही नहीं है।

अध्याय ३

इतिहास और पुरातत्व

प्रियंका देशों के कई इतिहासकारों ने टिप्पणी की है कि यद्यपि भारतीय उपमहाद्वीप के बुद्धिजीवियों ने विज्ञान, कला और शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अति महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त की हैं, फिर भी, कुछ समय पूर्व तक, इन उपलब्धियों को इतिहास में स्थान दिलाने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है। भारतीय साहित्य में, विशेषकर संस्कृत साहित्य में, जो काफी विशाल व महत्वपूर्ण है, विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से लिखी गई कृतियां नगण्य हैं। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत के कालक्रम की पुष्टि के लिए विद्वानों को काफी हद तक सिक्कों व अभिलेखों के प्रमाणों पर निर्भर करना पड़ता है। अति प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में शोधकर्ताओं को अनुमानों का सहारा लेना पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ऐसे परिणामों में, बाद में, न केवल सुधार होता रहता है, बल्कि बाद की खोजों के आधार पर इनका खंडन भी हो सकता है।

भारत अंग्रेज विद्वान सर विलियम जोन्स का इस बात के लिए आभारी रहेगा कि उन्होंने सिद्ध किया कि यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित सांद्रकोत्तोस (Sandrakottos) या सांद्रोकोप्टोस (Sandrakoptos) और कोई नहीं, सम्राट अशोक के पितामह और मौर्य राजवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य ही थे। पाटलिपुत्र में मौर्य राजवंश की स्थापना का काल 320 ई. पू. से 310 ई. पू. के बीच आंका गया है, परंतु ऐतिहासिक प्रमाण 315 ई. पू. के पक्ष में जाते हैं। इस महत्वपूर्ण तिथि ने, बौद्ध व सिंहली ग्रंथों में उपलब्ध प्रमाणों और पौराणिक परंपराओं की सहायता से, इतिहासकारों को 600 ई. पू. और 300 ई. पू. के बीच के उत्तरी भारत के इतिहास का काफी हद तक सफल पुनर्निर्माण करने में बुनियादी आधार प्रदान किया है। इसके बावजूद, कुछ महत्वपूर्ण तिथियों के बारे में थोड़ी-बहुत अनिश्चितता बनी हुई है; जैसे, “एशिया का प्रकाश” के रूप में विश्वविख्यात शाक्य मुनि गौतम बुद्ध के जन्म व निर्वाण की तिथियां।

सम्राट अशोक और मुस्लिम आक्रमणों के बीच के लंबे अरसे (200 ई. पू. से

1000 ई. तक) के इतिहास के संबंध में इतिहासकारों को पूर्णतया पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा खोजे गए सिक्कों व अभिलेखों पर ही निर्भर रहना पड़ा है। समकालीन देशी व विदेशी पर्यटकों व लेखकों और काश्मीर व गुजरात जैसे प्रदेशों के स्थानीय इतिहासकारों की कृतियों से भी कुछ प्रामाणिक सूचनाएं मिली हैं। दिल्ली का लौह-स्तंभ और उस पर उत्कीर्ण राजा चंद्र से संबंधित अभिलेख इसी काल के हैं।

चौथी सदी के प्रारंभ से, जब चंद्रगुप्त-प्रथम के शासन के साथ गुप्तवंश का "स्वर्णयुग" शुरू हुआ, सिक्के और पत्थरों व धातुओं पर अभिलेखों की उपलब्धि पिछली सदियों की अपेक्षा काफी अधिक है। जब उन्नीसवीं सदी के मध्य से प्राच्यविदों द्वारा पुरालेख व मुद्रा संबंधी खोजों की शुरुआत हुई, तब से भारतीय इतिहास की व्याख्या व इसके पुनर्निर्माण के लिए सिक्कों, स्तंभों, राज्यादेशों व अभिलेखों आदि को विशेष महत्व दिया गया है। आधुनिक अनुसंधान की वैज्ञानिक व समीक्षात्मक विधियों का उपयोग करने पर इन खोजों से ऐसे परिणाम मिले हैं जो आरंभिक प्राच्यविदों की कल्पना से परे थे। यह कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। हर वर्ष हमारी कालक्रमिक जानकारी के भंडार में नई सूचनाओं का समावेश हो रहा है।

यहां यह उल्लेख प्रासंगिक होगा कि भारत में इस्लामी शासन के उदय काल (1000 ई.) से इतिहासकारों के सूचना-स्रोतों के स्वरूप में सुधार हुआ है। केवल अभिलेखों, सिक्कों व ताम्रपत्रों आदि के माध्यम से अपूर्ण व आंशिक इतिहास के स्थान पर इस काल से इतिहासकारों के लेखन से समकालीन घटनाओं का विवरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इन इतिहासकारों में कम से कम कालक्रमिक सहज-बुद्धि है, हालांकि ये भी यदा-कदा गलत तिथियां प्रस्तुत करते हैं।

प्राचीन भारत के साहित्यिक कालक्रम के बारे में हमारी अनुमानित तिथियों की जानकारी अत्यधिक अस्पष्ट है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, पतंजलि, भवभूति और भर्तृहरि जैसे हमारे महान लेखकों से संबंधित तिथियां भी अनिश्चितता से भरपूर हैं। किर भी सातवीं सदी से समकालिक घटनाओं, समकालीन सूचनाओं और आंतरिक प्रमाणों के माध्यम से उस समय के कुछ प्रसिद्ध लेखकों के काल को काफी हद तक सुनिश्चित किया जा सकता है।

उपर्युक्त धुंधले ऐतिहासिक व पुरातात्त्विक परिदृश्य की पृष्ठभूमि में दिल्ली के ऐतिहासिक लौह-स्तंभ के संबंध में निम्न प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने हैं :

1. इस स्तंभ का निर्माण किसने, कब, कहां और कैसे किया था?
2. अपने वर्तमान स्थान पर स्थापना से पूर्व क्या इस स्तंभ की किन्हीं और स्थानों पर भी स्थापना हुई थी? यदि हां, तो कहां और कब हुई थी?

3. इस स्तंभ पर मरणोपरांत उत्कीर्ण प्रशस्ति का राजा "चंद्र" कौन था?

वह कौन था जिसने तीन संस्कृत श्लोकों वाली इस प्रशस्ति को लिखा या लिखवाया?

4. यदि इस अभिलेख के खुदवाने से अन्य कोई राजा संबद्ध है, तो उसका राजा चंद्र से क्या संबंध था?

इन प्रश्नों के उत्तर दूँड़ने में हमें भारत के प्राचीन इतिहास की एक अत्यधिक जटिल व चकरा देने वाली समस्या का सामना करना पड़ता है।

पुरालिपि के प्रमाण

पुरालिपि आधुनिक विज्ञान की वह शाखा है जो प्राचीन अभिलेखों व लिखित सामग्री के अध्ययन से संबद्ध है। अब इसका इतना विकास हो चुका है कि इसके परिणाम निर्णायक व अंतिम हो सकते हैं। शिलालेखन पत्थरों व प्रतिमाओं आदि पर उत्कीर्ण अभिलेखों से संबंधित है और मुद्राशास्त्र सिक्कों व पदकों आदि से संबंधित है। ये दोनों ही पुरालिपि विज्ञान की शाखाएँ हैं।

दिल्ली-स्तंभ के अभिलेख से संबंधित कालावधियां इस प्रकार हैं :

(क) इसा से पूर्व (ई. पू.)

315 ई. पू. से 135 ई. पू. (मौर्य राजवंश)

(ख) इसा के पश्चात् (ई.)

75 ई. से 225 ई. (कुषाण राजवंश)

290 ई. से 490 ई. (गुप्त राजवंश)

दिल्ली-स्तंभ पर अभिलिखित विविध विजयों का श्रेय इन तीन राजवंशों के अनेक शासकों में से, संभवतः, केवल निम्नलिखित को ही दिया जा सकता है :

1. 315 ई. पू. - 295 ई. पू. : चंद्रगुप्त मौर्य

2. 275 ई. पू. - 235 ई. पू. : सम्राट अशोक (मौर्य)

3. 75 ई. - 110 ई. : कनिष्ठ (कुषाण)

4. 320 ई. - 340 ई. : चंद्रगुप्त-प्रथम

5. 340 ई. - 375 ई. : समुद्रगुप्त

6. 375 ई. - 415 ई. : चंद्रगुप्त-द्वितीय (विक्रमादित्य)

उपर्युक्त तिथियां केवल अनुमानित हैं जिन्हें सुविधा के लिए पांच के गुणकों में परिवर्तित कर दिया गया है। समुद्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथियों में 325 ई. से 350 ई. तक की भिन्नता पाई जाती है।

प्रसिद्ध पुरालिपि-विशेषज्ञ जेम्स प्रिंसेप के सन् 1838 में प्रकाशित प्रारंभिक व पथप्रदर्शक लेख में लौह-स्तंभ के अभिलेख का काल ईसा पश्चात् तीसरी व चौथी सदी बताया गया है। सन् 1875 में भाऊ दाजी ने इसका संबंध गुप्तकाल के बाद से बताया है। दिल्ली के लौह-स्तंभ, समुद्रगुप्त की वीरता के कारनामों के विवरण वाले इलाहाबाद स्तंभ और बिलसड़ के कुमारगुप्त-स्तंभ के अभिलेखों के अक्षरों की समानता पर फ्लीट की सन् 1887 की टिप्पणी ने इस दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी पहली धारणा यह थी कि गुप्त राजवंश का प्रथम महाराजाधिराज चंद्रगुप्त-प्रथम ही लौह-स्तंभ का राजा चंद्र है। उन्होंने जे. फर्गुसन के इस मत का उल्लेख भी किया है कि यह अभिलेख गुप्त राजवंश के दोनों चंद्रगुप्तों में से एक का है।

एम. जोशी और एस. के. गुप्ता द्वारा संपादित व सन् 1989 में प्रकाशित राजा चंद्र और महरोली का स्तंभ नामक पुस्तक में इस विषय से संबंधित अनेक भारतीय शोधकर्ताओं के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। इन सभी विचारों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि केवल पुरालिपि के आधार पर अधिकतर विद्वान् इस अभिलेख का संबंध समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त-द्वितीय के काल से मानते हैं। उपर्युक्त पुस्तक में जी. आर. शर्मा का सन् 1945 में किया गया दावा यहां पर दोहराना प्रासंगिक होगा :

पुरालिपि के प्रमाण निर्णायक हैं। मैंने मेहरोली स्तंभ के अभिलेख का कुषाण अभिलेखों और गुप्त अभिलेखों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। इन पर दृष्टिपात से ही कुषाण अभिलेख व मेहरोली के अक्षरों की विभिन्नता और इसी प्रकार मेहरोली और गुप्त काल के अक्षरों की समानता स्पष्ट हो जाती है। अतः मेहरोली स्तंभ के अभिलेख का संबंध, पुरालिपि के आधार पर, पांचवीं सदी के पूर्वार्ध से होना चाहिए।

इस पुस्तक से हमें यह जानकारी भी मिलती है कि भारतीय पुरालिपि के प्रमुख विशेषज्ञ भाऊ दाजी को इस बात में कोई संदेह नहीं था कि मेहरोली प्रशस्ति का लेखन-कार्य ईसा की पांचवीं सदी के प्रारंभिक काल में किया गया था। इसी पुस्तक में लल्लनजी गोपाल के अनुसार पुरालिपि के आधार पर दिल्ली-स्तंभ का संबंध चंद्रगुप्त मौर्य के काल से होने की संभावना नगण्य है। राजा कनिष्ठ से भी इसका संबंध जोड़ने के लिए हमें, न केवल उसके राज्यकाल की तिथियों में, बल्कि ब्राह्मी

लक्षणों के आगमन की तिथियों में भी परिवर्तन करना पड़ेगा।

मरणोपरांत” संदर्भ इस चर्चा का एक और अत्यंत महत्वपूर्ण रॉ ने फ्लीट के “मरणोपरांत प्रशस्ति” के निष्कर्ष का प्रतिवाद भा है, परंतु मूलपाठ की ध्यानपूर्वक जांच करने पर किसी प्रकार नहीं रह जाती है। अभिलेख के दूसरे श्लोक से इस तथ्य की नेतृता है। पहला संकेत है कि “राजा सशरीर परलोक सिधार अत है कि ”राजा अपनी ख्याति के माध्यम से इस संसार में अब प्रकार, अभिलेख के विषय से यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है औ के लिए इस ध्वज-स्तंभ की स्थापना राजा चंद्र ने की थी, ख की खुदाई उनके जीवनकाल में नहीं हुई थी। यह लगभग ख की रचना और स्तंभ पर उसकी खुदाई राजा के उत्तराधिकारी रान की गई है।

यह है कि, पुरालिपि के अध्ययन से यह संकेत मिलते हैं कि भेलेख में जिस राजा का उल्लेख किया गया है वह समुद्रगुप्त य है। अतः यह कहा जा सकता है कि अपने पिता की वीरता के अभिलेख की रचना व खुदाई को जिस राजा ने अंजाम दिया वह हुमारगुप्त-प्रथम (सारणी 4) ही होना चाहिए।

राजा की विजयों के प्रमाण

-स्तंभ के अभिलेख में वर्णित राजा चंद्र की पहचान इतिहासकार के रूप में करें, परंतु उस राजा को प्रशस्ति में वर्णित अनेक प्रौढ़ उपलब्धियों की कसौटी पर खरा उत्तरना पड़ेगा। अधिकतर ने इस राजा की उपलब्धियों की अपेक्षा उसके नाम को अधिक किया है। इसीलिए उस राजा की पहचान के संबंध में प्रस्तुत अंतर पाया जाता है। उस समय से संबंधित प्रत्येक छोटे या बड़े, के नाम में “चंद्र” शब्द का समावेश था, किसी एक अथवा दूसरे ही इस लौह-स्तंभ के अभिलेख से जोड़ दिया। इस प्रकार, इ (“चंद्र”), पुष्करण के चंद्रवर्मन, नागराज चंद्रांश व सदाचंद्र, प्रति-द्वितीय, यहां तक कि पुराणों के देवरक्षित को भी, विभिन्न ग्रंथ राजा चंद्र माना है। इसलिए इस संबंध में भ्रांति की स्थिति

गुप्त साम्राज्य का इतिहास विषय पर थीसिस तैयार कर रहे थे, तब उन्होंने एक नया और दिलचस्प प्रस्ताव रखा कि लौह-स्तंभ के अभिलेख में उल्लिखित राजा चंद्र की सबसे उत्तम पहचान चंद्रप्रकाश से की जा सकती है जो गुप्तवंश के सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रारंभिक नाम था। जोशी व गुप्ता द्वारा संपादित पूर्वोल्लिखित पुस्तक में उन्होंने अपने विचारों का सारांश प्रस्तुत किया है। प्रारंभ में वह फ्लीट के साथ सहमति प्रकट करते हुए इस ओर संकेत करते हैं कि अभिलेख से यह बात निश्चित है कि राजा का मूल नाम चंद्र था। वास्तव में यह शब्द चंद्राह्वेन (जिसे चंद्र कहा गया) है। उनके कथनानुसार, इतिहास के इस काल में, चंद्र नाम का कोई भी ऐसा राजा नहीं हुआ जिसे अभिलेख में उल्लिखित स्मरणीय उपलब्धियों का श्रेय दिया जा सके। इसलिए हमें इस संबंध में अपनी खोज की प्रक्रिया में परिवर्तन करना होगा। राजा के नाम को अधिक महत्व न देते हुए उसके बारे में लिखे गए तथ्यों के विश्लेषण से प्रारंभ करके हमें उस राजा का नाम-पता लगाने का प्रयत्न करना होगा जो इस विवरण से सबसे अधिक मेल खाता हो।

सम्राट् की प्रशस्ति के संबंध में हमें अभिलेख से निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है :

1. वंग देश में उसने अपने शत्रुओं को परास्त किया।
2. उसने सिंधु नदी के सात मुखों को पार किया; अर्थात्, सिंधु नदी के मुहाने को पार करके उसने वाहिकों पर विजय प्राप्त की।
3. उसके शौर्य की समीर से दक्षिणी महासागर आज भी महक रहा है।
4. उसने अपने बाहुबल से पृथ्वी पर एकाधिराज्य स्थापित किया।
5. उसने एक लंबे अरसे तक राज्य किया।
6. वह श्रद्धावान वैष्णव था और इस स्तंभ की स्थापना उसने भगवान विष्णु के लिए ध्वज-स्तंभ के रूप में की (लेट 7)।
7. उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी ख्याति इस पृथ्वी पर लंबे अरसे तक बनी रही।

अभिलेख की संभावित तिथि के संबंध में गोयल अपने से पहले के विद्वानों के साथ सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस सम्राट् के साम्राज्य का विकास चौथी सदी के उत्तरार्ध में अथवा पांचवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में हुआ था। वह अपने काल का एक शक्तिशाली विजेता, एक साम्राज्य का निर्माणकर्ता और भगवान विष्णु का भक्त था। उसने अपने पूर्वज के बल व गौरव के फलस्वरूप नहीं, बल्कि अपने पराक्रम से एकाधिराज्य स्थापित किया। गुप्त साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक राजा

समुद्रगुप्त ही एकमात्र ऐसा राजा है जो इस चित्रण के अनुरूप है। गोयल का यह अंतिम दावा काफी सशक्त है, क्योंकि इतिहासकारों के अनुसार समुद्रगुप्त ही योद्धा राजाओं में सबसे अधिक समर्थ था। वह भारत के महान शासकों में एक था। वह सैकड़ों युद्धों का वीर नायक था और गुप्त शासकों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली व योग्य था।

गोयल ने तो चंद्रगुप्त-द्वितीय पर यह कटाक्ष भी किया है कि उसे साम्राज्य का निर्माणकर्ता एक ही प्रकार से कहा जा सकता है कि उसने अपने भाई रामगुप्त का वध करके उसके राज्य को प्राप्त कर लिया था। उसकी उल्लेखनीय सैनिक उपलब्धि केवल पश्चिमी भारत में शक राज्य पर विजय थी। फिर भी, यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि लौह-स्तंभ के अभिलेख में शकों पर इस विजय का यत्किंचित् भी उल्लेख नहीं है।

गोयल ने, इसके अतिरिक्त, एक और तथ्य हमारे सामने रखा है कि समुद्रगुप्त संभवतः चंद्रप्रकाश नाम से भी जाना जाता था, जैसाकि वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (लगभग ८०० ई.) में उद्धृत निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट है :

सोयं संप्रति चंद्रगुप्ततनयः चंद्रप्रकाशो युवा
जातोभूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्याकृतार्थश्रमः

यहां सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुबंधु को “चंद्रगुप्त के पुत्र चंद्रप्रकाश” का मंत्री कहा गया है। चंद्रगुप्त-द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त द्वारा इस प्रकार का राज्याश्रय दिए जाने का कोई संदर्भ उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह एक तर्कसंगत निष्कर्ष है कि इस पद्य में वर्णित चंद्रप्रकाश समुद्रगुप्त ही है, जो चंद्रगुप्त-प्रथम का पुत्र होने के साथ-साथ स्वयं एक कवि भी था।

अंत में यह कहा जा सकता है कि गोयल ने लौह-स्तंभ में वर्णित राजा चंद्र के संबंध में कुछ ऐसे मुद्दे प्रस्तुत किए हैं जो समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त-द्वितीय, दोनों पर समान रूप से लागू हो सकते हैं। दोनों का ही वैष्णव मत में विश्वास था और दोनों ने ही एक लंबे अरसे तक राज्य किया। फिर भी अभिलेख में उल्लिखित सैनिक उपलब्धियां बिलकुल स्पष्ट हैं और इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं रह जाता है कि वे केवल समुद्रगुप्त से ही मेल खाती हैं, जो एक बहादुर योद्धा था और जिसने उस काल में शूरवीरता के असाधारण साहसपूर्ण कार्यों को अंजाम दिया। गोयल ने लिखा है कि “वास्तव में, मेहरोली प्रशस्ति में किसी भी महत्वपूर्ण तथ्य की न तो अवहेलना की गई है और न ही किसी का अनावश्यक उल्लेख किया गया है। इनकी व्याख्या समुद्रगुप्त के लिए करने में किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं है, जबकि चंद्रगुप्त-द्वितीय के संबंध में ऐसी बात नहीं है। यह प्रशस्ति तीन संक्षिप्त पद्यों में, आवश्यक परिवर्तन के

साथ, सिर्फ वस्तुस्थिति का वर्णन करती है, जबकि इलाहाबाद प्रशस्ति में इन्हीं बातों को ३३ पंक्तियों में कहा गया है।

सारांश यह है कि, ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि दिल्ली के लौह-स्तंभ के अभिलेख की प्रशस्ति में उल्लिखित राजा गुप्तकाल के दो महान सम्राटों – समुद्रगुप्त अथवा चंद्रगुप्त-द्वितीय – में से एक था। लगभग ३० वर्ष पूर्व तक, अधिकतर इतिहासकार, स्तंभ के राजा चंद्र को चंद्रगुप्त-द्वितीय मानते थे। परंतु गत दो दशकों में, गोयल के विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर, इस क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों व शोधकर्ताओं ने अभिलेख के राजा चंद्र को राजा समुद्रगुप्त मानने की बात को अधिक पुष्ट प्रदान की है। यह बात स्पष्ट है कि यह अभिलेख एक मरणोपरांत प्रशस्ति है जिसे एक अन्य सम्राट ने, संभवतः राजा के पुत्र ने, अर्थात् चंद्रगुप्त-द्वितीय या कुमारगुप्त-प्रथम ने, इस स्तंभ पर खुदवाया होगा।

अंत साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह लौह-स्तंभ न तो “विजय-स्तंभ” है और न ही “कीर्ति-स्तंभ”। वास्तव में, यह भगवान विष्णु का प्रतीकात्मक “ध्वज-स्तंभ” है और इसीलिए अधिक संभावना इसी बात की है कि प्रारंभ में इसकी स्थापना विष्णु मंदिर में ही की गई होगी और, सामान्य परंपरा के अनुसार, उस समय इस पर कोई अभिलेख भी नहीं रहा होगा। स्मिथ का अनुमान है कि अभिलेख में स्तंभ के स्थापना-स्थान के लिए विष्णुपद गिरि का उल्लेख मथुरा शहर के लिए हो सकता है। मथुरा दिल्ली से केवल ८० मील की दूरी पर है और प्राचीन काल से विष्णु मंदिरों के एक स्थल के रूप में विख्यात है। यह एक प्राचीन तीर्थ स्थान है। इस शहर में व इसकी सीमा के आसपास बहुत-सी पहाड़ियां व टीले हैं। यह गुप्त साम्राज्य की सीमा के अंदर था और यहां से गुप्तकाल से संबंधित शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। इस स्तंभ के निर्माण में परंपरागत पत्थर के स्थान पर लौह का चुनाव इस बात का घोतक है कि इसके निर्माण के पीछे कला व साहित्य के किसी महान संरक्षक का नहीं, बल्कि एक योद्धा व दृढ़-संकल्प सेनिक का हाथ है। इस आधार पर भी इस स्तंभ के निर्माणकर्ता के रूप में चंद्रगुप्त-द्वितीय की बजाय समुद्रगुप्त का पलड़ा भारी पड़ता है। स्तंभ-अभिलेख के संस्कृत के तीन श्लोक निश्चित रूप से चंद्रगुप्त-द्वितीय से संबंधित हैं, जो एक महान योद्धा-पिता का कृतज्ञ पुत्र होने के साथ-साथ प्रतिभाशाली संस्कृत कवियों को संरक्षण देने के लिए भी प्रसिद्ध था।

लौह-स्तंभ की अद्वितीयता

दिल्ली-स्तंभ के निर्माण की कुशल विधि एवं अत्यधिक संक्षारण-प्रतिरोध क्षमता के अतिरिक्त इसकी कुछ अन्य अद्वितीय विशेषताएं भी हैं। निर्माण-विधि और

संक्षारण—प्रतिरोध से संबंधित चर्चा अगले अध्यायों में की जाएगी। अब हम इसकी उस अद्वितीयता पर प्रकाश डालेंगे जिसमें इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं की विशेष रुचि है।

भगवान विष्णु को समर्पित मंदिर के इस ध्वज—स्तंभ के निर्माण में लोहे के प्रयोग से संबंधित एक संकेत इसी अध्याय में पहले दिया जा चुका है। सामान्यतः इसके लिए पत्थर अथवा लकड़ी का प्रयोग किया जाना चाहिए था, परंतु एक धातु का चयन, वह भी लोहे का, निश्चित रूप से असाधारण बात है। इस महत्वपूर्ण विशेषता का संबंध केवल ऐसे महान योद्धा से हो सकता है जो लौह—निर्मित हथियारों का विशेषज्ञ हो और इसे समुद्रगुप्त जैसे “सौ लड़ाइयों के वीर नायक” के साथ जोड़ना स्वाभाविक है। किसी देवी—देवता को समर्पित मंदिर के ध्वज—स्तंभ पर किसी मनुष्य के पराक्रम की गाथा को चित्रित करने हेतु प्रशस्ति का उल्कीर्णन भी एक असाधारण बात है। यहां यह बात स्पष्ट है कि इस अपरंपरागत ध्वजस्तंभ का स्थानांतरण करने के बाद स्तंभ—निर्माण करवाने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे ने यह उल्कीर्णन कार्य संपन्न करवाया होगा। संभवतः समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद विद्वानों व पुजारियों ने इस बात पर आपत्ति की होगी कि एक पवित्र स्थान पर उस समय शुभ न माने जाने वाले लौह की स्थापना नहीं होनी चाहिए।

इस लौह—स्तंभ की एक और विलक्षणता यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में ग्यारहवीं सदी के, अब तीन टूटे हुए भागों में पड़े, धार के लौह—स्तंभ के अतिरिक्त अभी तक ऐसा अन्य कोई उदाहरण नहीं मिला है। इसके पहले या बाद की लोहे की सभी प्राप्त वस्तुएं आकार—प्रकार और भार में सुप्रसिद्ध दिल्ली—स्तंभ की तुलना में कहीं नहीं हैं। सदियों तक खुले आसमान के नीचे रहने के बावजूद इस की जंग—रहित प्रकृति का तो जवाब ही नहीं है। तथापि यह बात माननी पड़ेगी कि हमारे देश में इस प्रकार के कई अन्य अद्वितीय स्मारक भी हैं। उदाहरणातः, दक्षिण भारत में तमिलनाडु के तजावुर में राजराज चोळ द्वारा दसवीं शताब्दी में निर्मित भव्य बृहदीश्वर मंदिर तथा उत्तरी भारत में मुगल सम्राट शाहजहां द्वारा सत्रहवीं सदी में उत्तर प्रदेश के आगरा में निर्मित ताजमहल। इस प्रकार के कुछ और उदाहरण भी हो सकते हैं। इन दोनों मामलों में उत्तराधिकारी पुत्रों ने, अर्थात् राजा राजेंद्र चोळ और बादशाह औरंगजेब ने, यदि अधिक सुंदर नहीं तो इसी प्रकार के स्मारक गंगाईकोङ्कोळपुरम और औरंगाबाद में बनवाने के निष्कल प्रयास किए। दिल्ली—स्तंभ, तजावुर मंदिर या आगरा के ताजमहल जैसे इतिहास बनाने वाले अद्वितीय स्मारकों के निर्माण के लिए बहुत सारी विशेष परिस्थितियों के संगम की आवश्यकता होती है जिनमें कल्पनाशील राजकीय संरक्षण, मौलिक व नवीन संकल्पना, किसी महान वस्तु के निर्माण की प्रबल इच्छाशक्ति, उत्साही नेता के नेतृत्व में निपुण कारीगरों का दल,

धन व उपयुक्त सामग्री की उपलब्धता आदि अनेक तत्व शामिल हैं।

धार लौह-स्तंभ का यहां संक्षिप्त वर्णन करना प्रासंगिक होगा। इसे राजा भोज (1000 ई. - 1055 ई.) के काल का माना गया है और संभवतः इसका निर्माण एक "विजय-स्तंभ" के रूप में किया गया होगा। यह स्तंभ बहुत ऊँचा है और इसे भी पिटवां लोहे से बनाया गया है। इसके तीन टूटे हुए भाग आजकल धार (मध्य प्रदेश में इंदौर के पास) की लाट मस्जिद क्षेत्र में पड़े हैं। इसका अनुप्रस्थ काट एकसमान नहीं है। यह अधिकतर चौकोर है, परंतु कहीं-कहीं पर आयताकार या अष्टकोणीय भी है और इसकी ओसत मोटाई दिल्ली-स्तंभ से काफी कम है। परंतु इसका वजन और लंबाई, दोनों मेहरोली-स्तंभ से अधिक हैं। इसके तीनों टूटे हुए टुकड़ों की कुल लंबाई 43 फुट 8 इंच (लगभग 14 मीटर) है और तीनों टुकड़ों का वजन कुल मिलाकर लगभग सात टन से थोड़ा अधिक है। इसे न केवल प्राचीन भारत का बल्कि समस्त प्राचीन जगत का सबसे ऊँचा स्तंभ होने का गौरव प्राप्त है। प्रतिष्ठित इतिहासकार विसेंट स्मिथ के शब्दों में :

जब हम इतने अधिक भार वाले दिल्ली-स्तंभ को फोर्जन प्रक्रिया द्वारा बनाने वाले प्राचीन शिल्पकारों के कौशल से अचंभित हो जाते हैं, तो हमें उन विस्मृत कारीगरों की और भी अधिक प्रशंसा करनी चाहिए जिन्होंने इससे भी अधिक वजन वाले स्मारक, धार-स्तंभ का सफलतापूर्वक निर्माण किया।

• • •

लौह प्रौद्योगिकी का विकास

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं
धाता गिरेधातवो

द्रव्य मिलने की आशा से मैंने जगह-जगह भूमि खोदी और (रसायन सिद्धि के लिए) पर्वत के अनेक अयस्कों को गला डाला ...

Yशस्त्री कवि भर्तृहरि की लोकप्रिय पुस्तक शतकत्रयम् (300 श्लोक) का एक श्लोक इस प्रकार आरंभ होता है। भर्तृहरि का काल सातवीं सदी माना गया है। यह उद्घरण स्पष्टतः संकेत करता है कि हमारे देश के विद्वान भी अपने समय में व पहले के काल में हुई प्रौद्योगिकी की प्रगति से भलीभांति परिचित थे। धातुकी में अयस्क प्रगलन से द्रवित धातु का उत्पादन तकनीकी की प्रगति का एक महत्वपूर्ण चरण है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस तकनीकी क्षेत्र में प्रगति की गति बहुत ही धीमी रही है। अतः यह स्वाभाविक है कि इसका प्रयोग निम्न गलनांक वाली धातुओं से शुरू कर के धीरे-धीरे उच्च गलनांक वाले अयस्कों के लिए किया गया। सारणी 5 में कुछ धातुओं के गलनांक दिए गए हैं। इस सारणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमें इन धातुओं के उत्पादन हेतु किन तापमानों को प्राप्त करना होगा और इसके फलस्वरूप तकनीकी तौर पर इनके अयस्कों से इन धातुओं के निष्कर्षण के लिए हमें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

यहां इस बात का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा कि आज अत्युच्च गलनांक वाली धातुओं सहित सभी धातुओं का निष्कर्षण विभिन्न देशों की प्रौद्योगिकीय आवश्यकताओं के अनुसार, रासायनिक धातुवेत्ताओं द्वारा इसी सदी में विकसित आधुनिक तकनीकी द्वारा संपन्न किया जा रहा है। भारत को भी अपने रसायन और धातुकर्म इंजीनियरों पर, गत चार दशकों में समुचित धातु निष्कर्षण तकनीकी के विकास और राष्ट्रीय स्तर पर रक्षा, नाभिकीय व अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्रों में तेज़ी से बढ़ती आवश्यकताओं के लिए सामरिक महत्व की सभी धातुओं व मिश्रधातुओं

को देश में उत्पादन करने हेतु उनके प्रशंसनीय प्रयासों के लिए गर्व है। भारतीय परमाणु अनुसंधान केंद्र (मुंबई) और रक्षा धातुकर्म अनुसंधान प्रयोगशाला (हैदराबाद) के वैज्ञानिक व तकनीकीविद इस चुनौतीपूर्ण कार्य में अग्रणी रहे हैं। उनके उद्देश्यपूर्ण अनुसंधान और विकास कार्यों के फलस्वरूप भारत बेरिलियम (Be), मोलिडिनम (Mo), टैटेलम (Ta), टाइटेनियम (Ti), टंगस्टन (W) व जरकोनियम (Zr), जैसी उच्च गलनांक वाली धातुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम हो गया है।

धातुकी क्या है? 'आक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश' में धातुओं को धातुशिल्प के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसमें अयस्क से धातु का दूसरे पदार्थों से पृथक्करण, प्रगलन और शोधन आदि प्रक्रियाओं का समावेश है। इसका इतिहास पिछले दस हजार वर्ष तक फैला हुआ है। धातुएं कई रूपों में इस हद तक हमारे दैनिक जीवन और पर्यावरण का अंग बन चुकी हैं कि पाषाण-युग के मानव के संसार की, जब धातुओं के उपयोग संबंधी ज्ञान का पूर्णतया अभाव था, आज हमारे लिए कल्पना करना भी लगभग असंभव-सा लगता है। आज मानव सभ्यता के विकास की प्रगति को पाषाण-युग से ताप्र-पाषाण युग, फिर कांस्य-युग और अंत में लौह-युग के आगमन द्वारा वर्गीकृत किया जाता है। जैसा कि ऐसे मोटे वर्गीकरणों के साथ होता है, यहां भी कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है और न ही कोई सार्वभौमिक कालक्रम पाया जाता है। इस संबंध में मेसोपोटामिया में 4000 ई. पू. में कांस्य-युग के आगमन का और बीसवीं सदी में भी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में पाषाण-युग के बने रहने का उदाहरण दिया जा सकता है।

धातुकर्म का आरंभ कैसे हुआ? अधिकतर धातुएं आक्साइड, सल्फाइड व कार्बोनेट जैसे रासायनिक यौगिकों के रूप में उनके अयस्कों में पाई जाती हैं। इसलिए धातुओं को आवश्यकतानुसार वांछित आकृतियों में परिवर्तित करने अर्थात् धातुकर्म से पूर्व उनके खनिजों की पहचान अर्थात् अन्वेषण, उन्हें धरती से निकालना अर्थात् उनका खनन और बाद में धातु उत्पादन के लिए रासायनिक विधियों द्वारा पृथक्करण अर्थात् प्रगलन आदि तकनीकी का विकास करना आवश्यक है। फिर भी सोना व तांबा आदि कुछ ऐसी धातुएं हैं जो अलग-अलग स्थानों पर थोड़ी मात्रा में असंयुक्त अथवा तत्व-रूप में पाई जाती हैं। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि पत्थर-युग के मानव को संयोगवश एक पीला व चमकदार स्वर्णपिंड मिला हो और इस नए प्रकार के पत्थर को उसने, अपने पत्थर के हथौड़े द्वारा, तोड़ने की कोशिश की हो। स्पष्टतः, सोना टूटने की बजाय चपटा हो गया होगा। इस बात से आकर्षित होकर उसने सोने पर इस प्रकार और काम किया होगा, ताकि वह इसे अपनी या अपनी प्रेमिका की अभिरुचि के अनुसार आकार दे सके।

क्या मनुष्य द्वारा धातुकर्म सर्वप्रथम सोने या तांबे पर किया गया? इस प्रश्न का

उत्तर इस तथ्य के कारण भी जटिल हो जाता है कि सोने का मूल्य सदैव अधिक रहा

सारणी 5 : कुछ धातुओं के गलनांक

क्रमांक	धातु	संकेत	गलनांक (°C)
1.	एल्युमीनियम	Al	660
2.	बेरिलियम	Be	1280
3.	तांबा	Cu	1085
4.	सोना	Au	1064
5.	लोहा	Fe	1535
6.	सीसा	Pb	327
7.	मैग्नीशियम	Mg	650
8.	पारा	Hg	-39
9.	मोलिब्डनम	Mo	2626
10.	निकेल	Ni	1455
11.	प्लैटिनम	Pt	1769
12.	चांदी	Ag	962
13.	टैटेलम	Ta	2996
14.	थोरियम	Th	1750
15.	टिन	Sn	232
16.	टाइटेनियम	Ti	1660
17.	टंगस्टन	W	3410
18.	यूरेनियम	U	1132
19.	जस्ता	Zn	420
20.	जरकोनियम	Zr	1852

है और सामान्य व सस्ते तांबे की तुलना में सोने की शिल्पकृतियों के मूल अवस्था में रहने की संभावना बहुत ही कम है। धातुकर्म के एक इतिहासकार के अनुसार, "सोने की वस्तुओं के अनगिनत रूपांतरण होते रहते हैं। वास्तव में, यह अनुमान लगाना

कपोल-कल्पना नहीं होगी कि किसी आधुनिक दांत में भरे गए सोने का कुछ भाग, किसी समय, भिज की किसी राजकुमारी के बालों में चमकती हुई कंधी का होगा।"

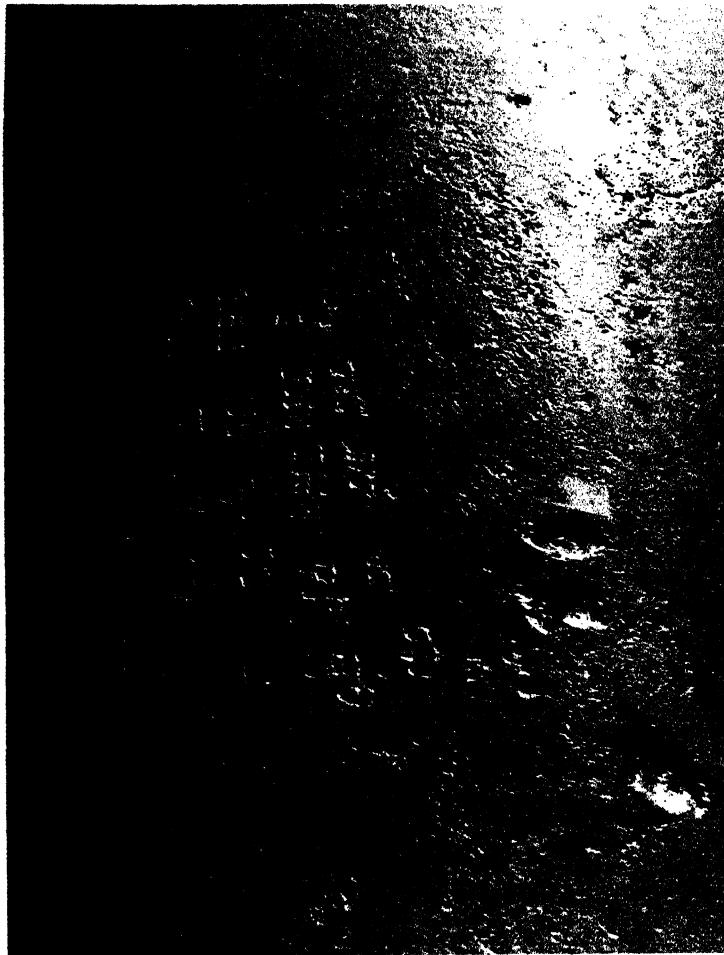
अयस्क से लौह-निष्कर्षण

धरती पर प्रचुर मात्रा में पाए जाने वाले तत्त्वों में लोहे (Fe) का स्थान चौथा है। स्थलमंडल (lithosphere) में इसकी मात्रा 5% से कुछ अधिक है। सैकड़ों खनिजों का यह एक महत्वपूर्ण (कभी-कभी अवांछित) घटक भी है। कार्बन डाइआक्साइड, आक्सीजन, सल्फर या सिलिका के साथ मिलकर यह आसानी से कार्बोनेट, आक्साइड, सल्फर या सिलिकेट बनाता है। तात्त्विक अवस्था में लोहा बहुत ही कम, मुख्यतः उल्कापिंडों व बेसाल्ट में, पाया जाता है। लौह अवसादी, आग्नेय व कायांतरीं चट्टानों का महत्वपूर्ण घटक है। यह पृथ्वी के बहुत सारे सतही पदार्थों को लाल, रक्ताभ भूरा, भूरा-पीला रंग देता है, जो इसके यौगिकों का, विशेषकर आक्साइडों का, एक अभिलक्षण है।

बड़े निष्केपों में उपस्थित लौहयुक्त पदार्थ, जिनमें लोहे की मात्रा काफी होती है, और जिन्हें लोहे के व्यावसायिक स्रोत के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है, लौह-अयस्क कहलाते हैं। अधिकतर अयस्क पिंडों में, मुख्यतः गोएथाइट ($Fe_2O_3 \cdot H_2O$), हेमेटाइट (Fe_2O_3) व मैग्नेटाइट (Fe_2O_4) के रूप में, लौह आक्साइड होता है और दूसरे यौगिक थोड़ी सी मात्रा में ही होते हैं। विश्व के कुछ भागों में, विशेषकर कनाडा में, सिडेराइट ($FeCO_3$) का भी लौह अयस्क के रूप में खनन किया जाता है।

व्यापारिक दृष्टि से उपयोगी, उच्च गुणवत्ता वाले प्राकृतिक लौह-अयस्क में लोहे की मात्रा, (शुष्क विश्लेषण के आधार पर) 5.5-6.8 प्रतिशत होती है। इसमें फास्फोरस व अन्य अपद्रव्यों की मात्रा बहुत ही कम होती है। आस्ट्रेलिया, ब्राजील, भारत, लाइबेरिया, मारिटानिया, दक्षिण अफ्रीका, पुराने सोवियत संघ के कुछ क्षेत्र और वेनेज्युएला में इस प्रकार के अयस्कों का बड़े पैमाने पर खनन किया जाता है। फ्रांस और लक्ष्मणराज में 3.2-3.8 प्रतिशत लौह-मात्रा का लौह-अयस्क भी, इस्पात संयंत्रों के पास स्थित होने के कारण, वाणिज्यिक स्तर पर उपयोग में लाया जा रहा है। अमरीका, कनाडा, चीन, नार्वे व स्वीडन आदि देशों में क्षीण (lean) लौह-अयस्कों को आज विभिन्न तकनीकों द्वारा समृद्ध भी किया जा रहा है।

तांबे को इसके अयस्कों से निष्कर्षित करने और विभिन्न ताम्र मिश्रधातुओं की, विशेषकर कांस्यों की, ढलाई में निपुणता प्राप्त करने के बाद, कांस्य-युग के धातुकर्मियों को लौह-अयस्कों से धात्तिक लौह प्राप्त करने में कई कठिनाइयों का सामना



प्लेट 5 : अमिलेख की सुरक्षित स्थिति को प्रदर्शित करती स्तंभ की सतह

**TRANSLATION AND TRANSCRIPTION
OF THE INSCRIPTION ON THE IRON PILLAR**

HE, ON WHOSE ARM FAME WAS INSCRIBED BY THE SWORD, WHEN,
IN BATTLE IN THE VANGA COUNTRIES (BĀNGĀL), HE KHEADED (AND
TURNED) BACK WITH (HIS) BREAST THE ENEMIES WHO, UNITING TOGETHER,
CAME AGAINST (HIM); -HE, BY WHOM, HAVING CROSSED IN WARFARE THE
SEVEN MOUTHS OF THE (RIVER) SINDHU, THE VĀHLIKAS WERE CONQUERED; -
HE, BY THE BREEZES OF WHOSE PROWESS THE SOUTHERN OCEAN IS EVER
STILL PERFUMED; -HE, THE REMNANT OF THE GREAT ZEAL OF WHOSE ENERGY,
WHICH UTTERLY DESTROYED (HIS) ENEMIES, LIKE (THE REMNANT OF THE
CREAT CLOWING HEAT) OF A BURNED-OUT FIRE IN A GREAT FOREST, EVEN
NOW LEAVES NOT THE EARTH; THOUGH HE, THE KING, AS IF WEARIED, HAS
QUITTED THIS EARTH, AND COME TO THE OTHER WORLD, MOVING IN (BODILY) FORM
TO THE LAND OF PARADISE: WON BY (THE MERIT OF HIS) ACTIONS, (BUT) REMAIN-
ING ON (THIS) EARTH BY (THE MEMORY OF HIS) FAME; -BY HIM, THE KING, - WHO
ATTAINED SOLE SUPREME SOVEREIGNTY IN THE WORLD, ACQUIRED BY HIS OWN
ARM AND (ENJOYED) FOR A VERY LONG TIME; (AND) WHO, HAVING THE NAME
OF CHANDRA, CARRIED A BEAUTY OF COUNTENANCE LIKE (THE BEAUTY OF)
THE FULL-MOON; HAVING IN FAITH FIXED HIS MIND UPON (THE + O) VISHNU,
THIS LOFTY STANDARD OF THE DIVINE VISHNU WAS SET UP ON THE HILL
+ + + + (CALLED) VISHNUPADA. (? 4TH CENTURY A.D.) + + + +
THESE TABLETS WERE ERECTED BY PANDIT BANKE RAI SON OF PANDIT
VISHWESHWAR HATH KHALI GOSWAMI OF DEHLI, ON THE 12 OF JANUARY 1903.

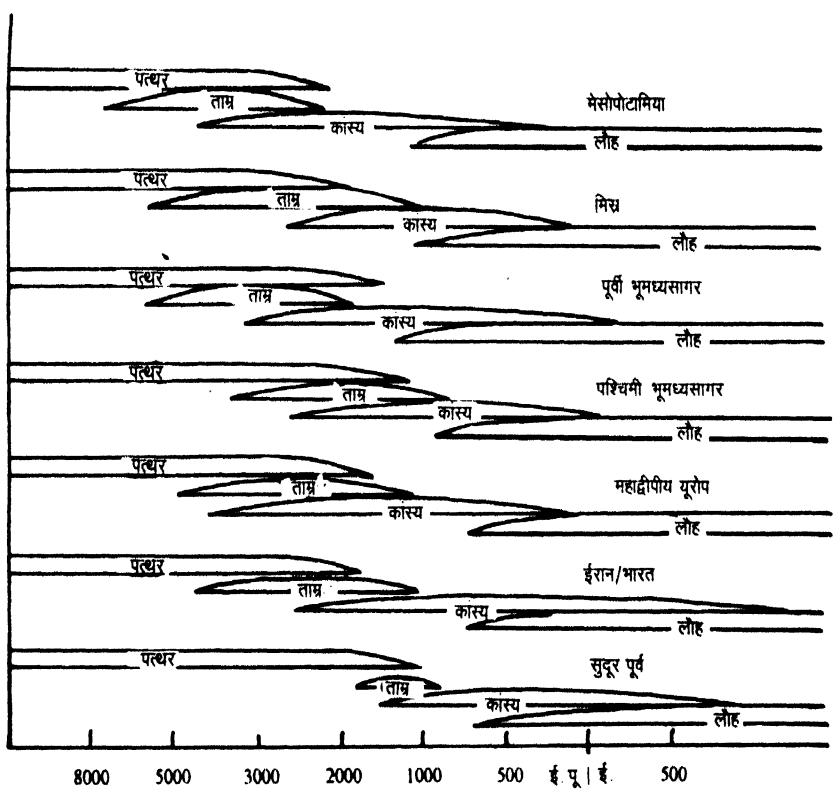
करना पड़ा। इस संबंध में यहां इस बात का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा कि (देखिए सारणी 5) शुद्ध लौह का गलनांक 1535°C है और अत्यधिक अशुद्ध लौह को भी पिघलाने व सुप्रवाही अवस्था में लाने के लिए 1200°C का तापमान आवश्यक है। इसलिए सामान्य ताप्र-प्रगलन प्रक्रिया से द्रव-लौह के उत्पादन की संभावना नहीं थी। इसके अतिरिक्त शुद्ध लौह पर, अतप्त अवस्था में, काम करना और उसकी गढ़ाई करना (फोर्जन) एक दुष्कर कार्य है। फोर्जन से पूर्व इसे गर्म करना आवश्यक है। अतः लोहे के लिए पूर्णतया नई विधि की आवश्यकता थी। ऐसा आभास मिलता है कि ई.पू. 1500 के कुछ समय बाद ही इस तकनीकी की संकल्पना और उपयोग में निपुणता प्राप्त कर ली गई थी, यद्यपि इसका स्रोत आज भी रहस्य बना हुआ है।

इस नई तकनीकी में समय के साथ और विकास हुआ और इसे "ब्लूम-भट्टी प्रक्रिया" का नाम दिया गया। इस विधि में लौह-अयस्क को काठकोयले के साथ एक भट्टी में धौंकनी की सहायता से गर्म करके पिघलाया जाता है। इस प्रकार प्राप्त गर्म लौह अथवा "ब्लूम" आमतौर पर ठोस लौह पिंडों के रूप में होता है, जिसमें प्रगलन प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न धातुमल मिला रहता है। लोहे के एक ठोस-पिंड के निर्माण के दौरान अधिकतर अवांछित धातुमल बाहर निकल जाता है। इसी उत्तम प्रक्रिया ने बाद में लौह उत्पादन की एक मानक प्रक्रिया का रूप ले लिया और यही प्रक्रिया थोड़े-बहुत परिवर्तनों (मुख्यतः उत्पादन की मात्रा में) के साथ लगभग 3000 वर्षों तक प्रचलित रही। एशिया माझनर के हितीजन (Hittites) लौह निर्माण में प्रगति करने वाले पहले लोगों में से थे। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि युद्धक्षेत्र में उनकी तथा बाद में उनकी तकनीकी अपनाने वाले असीरियाई लोगों की श्रेष्ठता उनके हथियारों की बेहतर गुणवत्ता के कारण थी।

धातुनिर्माण और धातुकर्म गतिविधियों के चरणों का कालक्रम निर्धारण काफी जटिल है। प्रमाणों की भिन्नता और लिखित सामग्री का प्रचलन काफी बाद में होना इसके मुख्य कारण हैं। फिर भी, धातु निर्माण में हुई प्रगति की कुछ सामान्य धारणाएं निर्धारित की जा सकती हैं, जिन्हें चित्र 7 में दिया गया है।

धमन-भट्टी क्रांति

लौह उत्पादन प्रक्रिया में मुख्य परिवर्तन पंद्रहवीं सदी में आया, जब लौह-अयस्क को पिघलाने के लिए धमन-भट्टी का उपयोग शुरू किया गया। इस संबंध में भी लोगों की भिन्न-भिन्न राय है कि यह प्रक्रिया स्वतंत्र रूप से विकसित की गई थी या नहीं। इटली में इसके प्रवेश के समय, निश्चित रूप से, पूर्व व पश्चिम के बीच अच्छे



चित्र 7 : प्राचीन काल में धातुकर्म की क्रमिक प्रगति का चार्ट

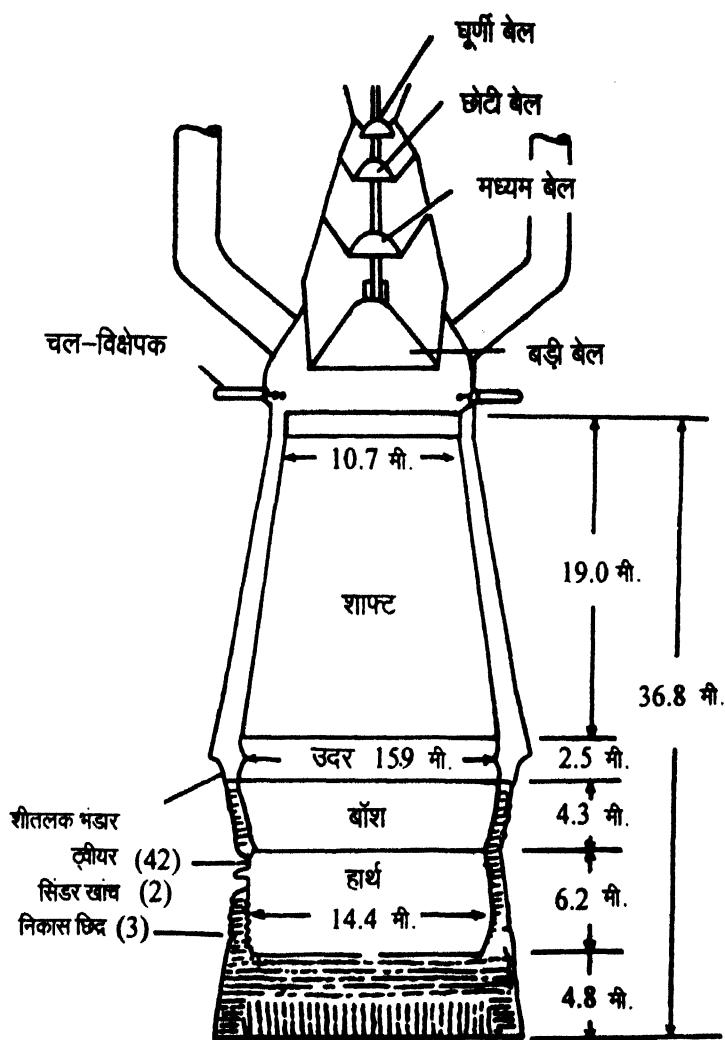
व्यापारिक संबंध स्थापित हो चुके थे। उस समय एशियावासियों का, विशेषकर चीनियों का, बृहत् लौह-कार्सिंग का निर्माण—कौशल बहुत प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त, यूरोप की ब्लूम प्रक्रिया में लगातार सुधार के फलस्वरूप अपेक्षाकृत ऊँची भट्टियों की स्थापना की गई और इनकी धौंकनियों को पनचकियों द्वारा चलाया जाता था। इस मध्ययुगीन उच्च-शाफ्ट ब्लूमरी से, जिसमें ब्लूम को घन-ताड़न के लिए बाहर निकाला जाता था, धमन—भट्टी का अगला चरण मुश्किल नहीं था। इसमें द्रवित धातु बाहर की ओर स्वयं प्रवाहित होती थी। इस बाद के चरण में काठकोयले के अधिक गहरे संस्तर का प्रयोग हुआ और लोहे को कार्बन के संपर्क में अधिक तापमान ($1300-1350^{\circ}\text{C}$) पर ज्यादा देर तक रखने के लिए अधिक शक्तिशाली धमन का उपयोग किया गया। ब्लूमरी में $1150-1200^{\circ}\text{C}$ का तापमान ही प्राप्त किया जा सकता था।

ब्लूमरी से धमन—भट्टी में हुए इस परिवर्तन का प्रभाव वास्तव में क्रांतिकारी था। ब्लूम का लौह लगभग शुद्ध धातु—कणों का समूह था और उसका गलनांक 1500°C से अधिक था। धमन—भट्टी में 3–4 प्रतिशत कार्बन होने के कारण उसका गलनांक 1200°C से भी कम हो सकता था। इस द्रव धातु के साथ इसकी ऊपरी सतह पर द्रव धातुमल तैरता है। जब भट्टी—तल में आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में धातु एकत्र हो जाती है, तब समय—समय पर धातुमल को बहा दिया जाता है। अंत में, भट्टी से निकलने के बाद, जब यह लौह जमकर पिंड का रूप ले लेता है, तब इसमें कार्बन की मात्रा अधिक होने के कारण यह भंगुर होता है और इसका तप्त—फोर्जन भी असंभव हो जाता है। इसलिए इस लौह के शोधन के लिए इसे पुनः गलाना आवश्यक हो गया। इसके लिए कई महत्वपूर्ण विकास—कार्य आवश्यक थे और इसी प्रक्रिया ने आधुनिक इस्पात प्रौद्योगिकी को जन्म दिया। धातुकर्म के इतिहासकारों के अनुसार, सन् 1850 से 1880 तक का काल इस्पात उद्योग के लिए अत्यंत क्रांतिकारी था, क्योंकि पश्चिमी यूरोप में बैसेमर, सीमेन्स और टामस की उल्लेखनीय खोजों का उद्भव इसी समय हुआ। इनसे ओपन हर्थ प्रक्रिया व कन्वर्टरों के माध्यम से बड़ी मात्रा में सस्ते इस्पात की प्राप्ति संभव हो सकी।

सोलहवीं सदी की ब्लूम—भट्टी और बीसवीं सदी की आधुनिक धमन—भट्टी को चित्र 8 व 9 में दिखाया गया है। इन चार सदियों में हुए विकास के फलस्वरूप धमन—भट्टी के आकार व तकनीकी में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। आज एक धमन—भट्टी में प्रतिदिन 2000 से 10,000 टन लोहे का उत्पादन किया जा सकता है। इस सदी में हुए अनेक नए तकनीकी विकास के बावजूद, ऐसा प्रतीत हो रहा है कि लौह की विश्वव्यापी वार्षिक मांग (लगभग 50 करोड़ टन से अधिक) की पूर्ति अगले कई वर्षों में भी धमन—भट्टी प्रक्रियाओं द्वारा ही की जाएगी।



चित्र ८ : सोलहवीं शताब्दी में लौह फोर्जन : एक कलाकार की दृष्टि में



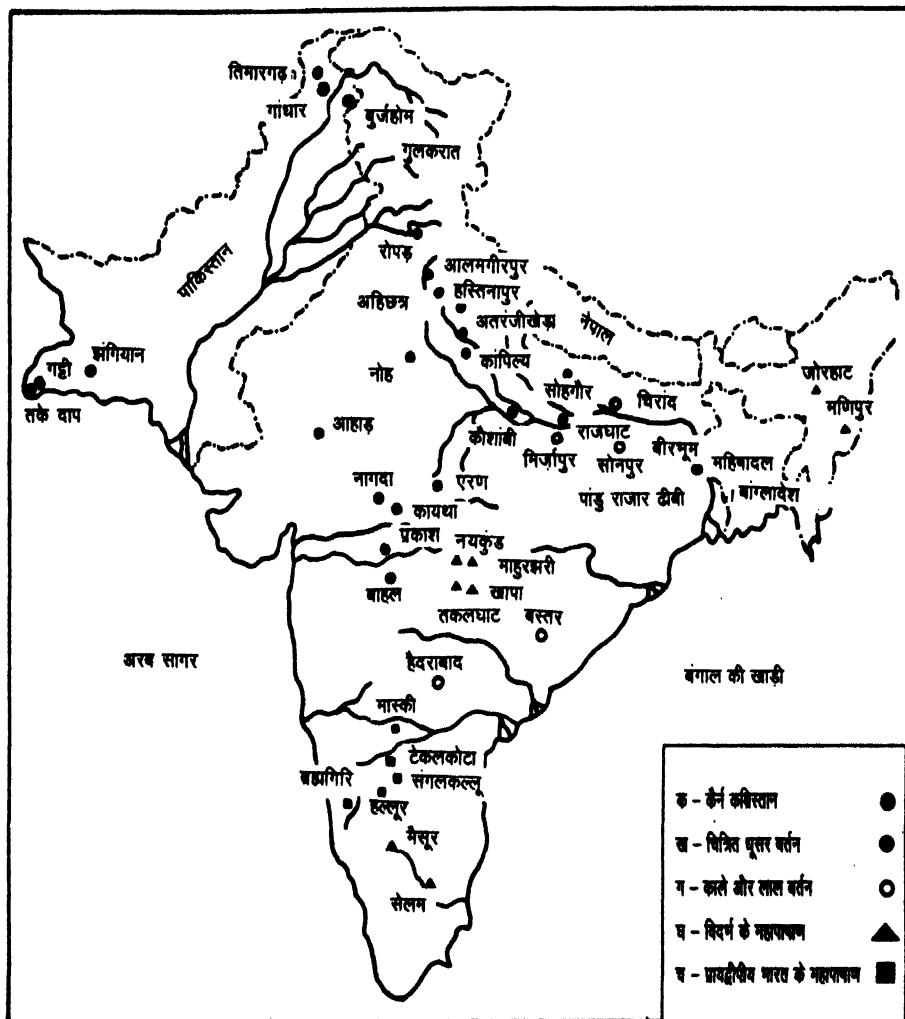
चित्र 9 : आधुनिक धमन-भट्टी की विशेषताएं तथा परिमाप

प्राचीन भारत में लौह प्रौद्योगिकी

लौहे की प्राचीनता अथवा भारतीय उपमहाद्वीप में लौहयुग के आगमन के संबंध में परस्पर-विरोधी विचारों के बावजूद, सभी आधुनिक वैज्ञानिक व विद्वानों की, आमतौर पर, यह मान्यता है कि प्राचीन धातुकर्म में भारत का सबसे महत्वपूर्ण योगदान लौह व इस्पात के क्षेत्र में है। गत तीन दशकों की पुरातात्त्विक खोजों ने प्राचीन भारत में लौह तकनीकी के विकास पर नई रोशनी डाली है। बी. प्रकाश और वी. त्रिपाठी के अनुसार, 1300 ई.पू. में ही इस उपमहाद्वीप में लौह की उपस्थिति के अब काफी स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं। अतः लौह तकनीकी के पश्चिम एशियाई देशों से भारत में आगमन की पुरानी मान्यता अब गलत सिद्ध हो चुकी है। ए. के. बिस्वास अपने 1991 के अध्ययन प्राचीन भारत के खनिज और धातुएं में इस बात को निश्चयपूर्वक कहते हैं कि लगभग बारहवीं सदी ई.पू. में, भौगोलिक दृष्टि से एक-दूसरे से काफी दूर, तीन अलग-अलग स्थानों में, स्वदेशी लौह की उपस्थिति की अब पुष्टि हो चुकी है। इसलिए हितियों अथवा आर्यों के प्रभाव संबंधी विचार को एक कल्पना समझकर रद्द कर देना चाहिए।

अपने हाल के लेखों में के. एन. पी. राव ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि लगभग 1200 ई.पू. से 200 ई. तक के काल की महापाषाणी संस्कृति का लौहे से घनिष्ठ संबंध रहा है। पुरातात्त्विक सबूतों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस काल में भारतीय उपमहाद्वीप में, कन्याकुमारी से काश्मीर तक व पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश (अब पाकिस्तान में) में भी, लौह का उत्पादन हो रहा था। इससे हमें किसी प्रकार का भी आश्चर्य नहीं चाहिए, क्योंकि भारतीय उपमहाद्वीप में लौह-अयस्क सभी जगह पाया जाता है, और संस्कृतियों व तकनीकियों का समानांतर विकास एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

प्रकाश और त्रिपाठी ने लौहयुग की सभ्यता से संबंधित भारत के कुछ महत्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थानों का विवरण तैयार किया है, जिसे चित्र 10 में दिखाया गया है। इन वैज्ञानिकों ने भारत की आंरभिक लौहयुगीन संस्कृतियों को उत्तर-पश्चिमी (क), उत्तरी (ख), उत्तर-पूर्वी (ग), मध्य (घ), और प्रायद्वीपीय (च), – इन पांच क्षेत्रों में बांटा है। यद्यपि C-14 अथवा रेडियो-कार्बन की तिथियों पर कुछ शोधकर्ताओं को विश्वास तो नहीं है, परंतु इसी आधार पर प्रत्येक उत्खनन स्थल के साथ तिथियों को मोटे तौर पर जोड़ दिया गया है। इन्हें चित्र 11 में दिया गया है। सांस्कृतिक क्षेत्रों से प्राप्त हुए विभिन्न औजारों और लौहे के दूसरे पदार्थों का विस्तृत विश्लेषण सारणी 6 में प्रस्तुत किया गया है। इस संबंध में एक दिलचस्प बात यह है कि इन क्षेत्रों में उत्खनन के फलस्वरूप अधिकतर लौह-उपकरण और शिल्पकृतियां निवासस्थानों (गांव आदि) की बजाय कबिस्तानों से मिली हैं। इसके अतिरिक्त, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के



चित्र 10 : भारतीय उपमहाद्वीप के उन पुरास्थलों का नक्शा जहाँ
लौह युग की वस्तुएं मिली हैं

आदिवासियों या कबीलों के मानवजातीय अध्ययन से यह पता चलता है कि लौह निर्माण-कार्य असुरों (दानवों या समाज से बहिष्कृत व्यक्तियों) का एक धार्मिक कृत्य गोपनीय अनुष्ठान था, न कि खेतिहरों का।

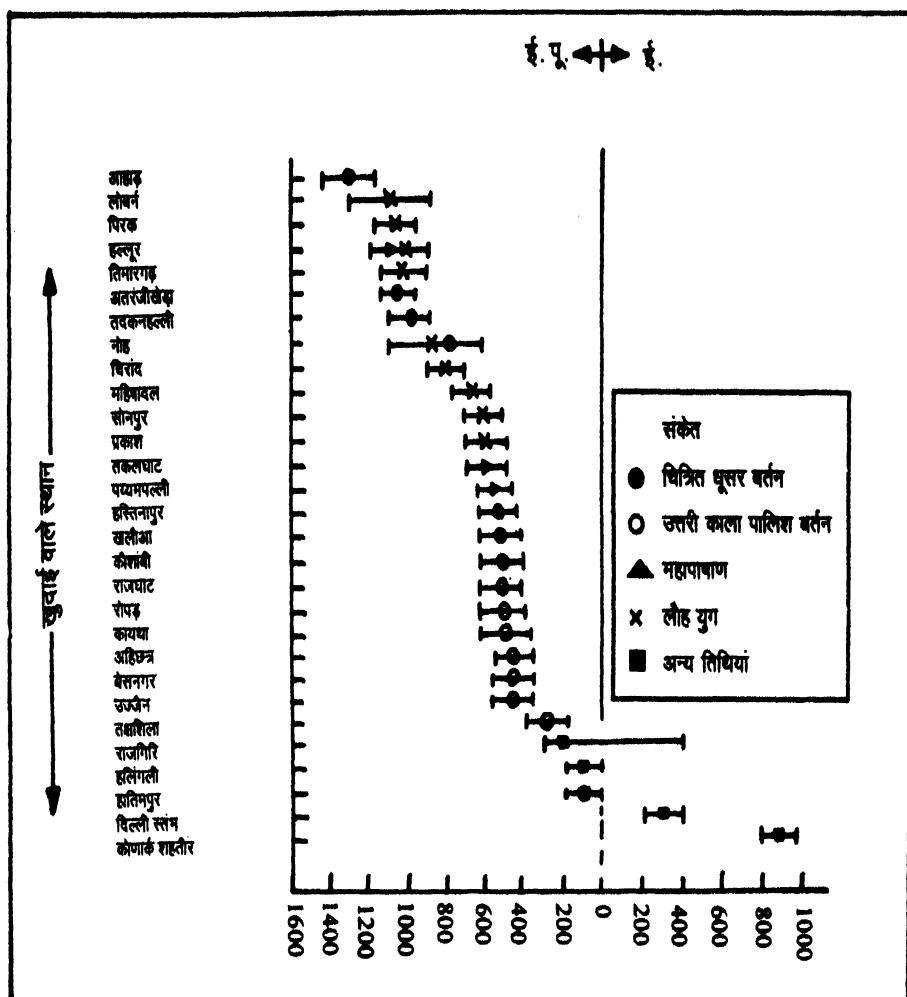
विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में लौह वस्तुएं

रेडियो-कार्बन तकनीकी से (कार्बन के C-14 रेडियो-आइसोटोप का प्रयोग करके) हाल में ही किए गए उत्खनन से प्राप्त लौह पदार्थों की तिथियां 1400 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक आंकी गई हैं।

क्षेत्र क अर्थात् एक समय के पश्चिमोत्तर भारत (वर्तमान पाकिस्तान) में, बलूचिस्तान के झोब और लोरालई क्षेत्रों के इसी प्रकार के कब्रिस्तानों से प्राचीन लौह पदार्थ मिले हैं। ईरान के निकटवर्ती क्षेत्रों के इसी प्रकार के कब्रिस्तानों में भी उत्खनन कार्य किया गया है। स्वात घाटी की गधार कब्र सभ्यता के प्राचीन कब्रिस्तानों में लगभग 800 ई.पू. के लौह की उपस्थिति के प्रमाण मिले हैं। यह काल धूसर रंग के मिट्टी के बर्तनों (पॉटरी) की निर्माण-कला के काल से संबंधित लगता है। इसमें से कुछ की तिथियों को लगभग 900 ई.पू. आंका गया है और ये अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों के धूसर बर्तनों से काफी अलग हैं।

क्षेत्र ख अर्थात् उत्तरी भारत की विशाल गंगा द्वीपी को चित्रित धूसर बर्तनों की (Painted Grey Ware-PGW) की संस्कृति से जोड़ा गया है, जो शायद 1000 ई.पू. से 400 ई.पू. के बीच फली-फूली है। इस क्षेत्र का विस्तार उत्तर में पंजाब व हिमाचल प्रदेश से लेकर दक्षिण में उज्जैन तक और पश्चिम में बीकानेर के विशाल रेगिस्तान से लेकर पूर्व में कौशांबी व वैशाली तक है। यद्यपि इस संस्कृति को चित्रित धूसर बर्तन संस्कृति का नाम दिया गया है, फिर भी ऐसे बर्तन इस विशाल क्षेत्र से प्राप्त बर्तनों का बहुत ही कम भाग है। अन्य बर्तनों में प्रख्यात उत्तरी काली पालिश बर्तनों (Northern Black Polish Ware-NBPW/NBP), सादे धूसर बर्तनों व लाल बर्तनों का समावेश है। यद्यपि उन्होंने सिक्कों या लेखन का उपयोग नहीं किया, फिर भी चित्रित धूसर बर्तनों के स्थल कांच व लोहे की प्रौद्योगिकी में निपुणता की ओर हो रही प्रगति को दर्शाते हैं। यहां की लौह वस्तुओं में क्षेत्र के साथ समानता मिलती है। इस क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण स्थल अतरंजीखेड़ा है जिसकी C-14 से निर्धारित तिथि 1125 ई.पू. है।

क्षेत्र ग अर्थात् उत्तर-पूर्वी भारत को काले व लाल बर्तनों (Black and Red Ware-BRW) के क्षेत्र का नाम दिया गया है और यह क्षेत्र ख से लगा हुआ है। यह क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र के कुछ भागों तक फैला हुआ है। इस संस्कृति की अनुमानित तिथि लगभग 800 ई.पू. से 700 ई.पू. के



चित्र 11: भारत में लौह प्रौद्योगिकी के विकासक्रम से संबंधित लौहयुग के स्थलों की रेडियो-कार्बन तिथियाँ (अर्धायु = 5730 वर्ष)

बीच आंकी गई है और यह अपनी अलग स्थानीय विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है।

क्षेत्र व अर्थात् मध्यभारत, जिसमें विदर्भ और इसके निकट का महाराष्ट्र का क्षेत्र सम्बलित है, का लौह महापाषाण युग के कबिस्तानों से प्राप्त काले व लाल बर्तनों के साथ प्राप्त होता है। यह लौह क्षेत्र ग के लोहे से पूरी तरह अलग है और अधिक परिष्कृत है। इसकी तिथि लगभग 700 ई.पू. आंकी गई है। उत्खनन से प्राप्त वस्तुएँ युद्ध में प्रयुक्त शस्त्रों की ओर इशारा करती हैं। इस क्षेत्र से प्राप्त सबसे महत्वपूर्ण उपलब्ध नयकुंड की महापाषाण युग की लौह गलन-भट्टी है जिसकी तिथि 700 ई.पू. है। इस भट्टी में वायु अंतःक्षेपण ट्रीयर हैं और धातुमल को निकालने का छिप्र भी है। इसे चित्र 12 में दिखाया गया है।

क्षेत्र व अर्थात् प्रायद्वीपीय भारत में दक्षिण भारतीय राज्य कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु व आंध्रप्रदेश शामिल हैं। यहां नवपाषाण युग के बाद के काले व लाल बर्तन मिले हैं। हल्लूर, तड़कनहल्ली और पैथ्यमपल्ली में किए गए हाल के उत्खनन कार्यों से यह पता चलता है कि इस क्षेत्र की लौह संस्कृति का विकास 1200 ई.पू. के आसपास हुआ होगा।

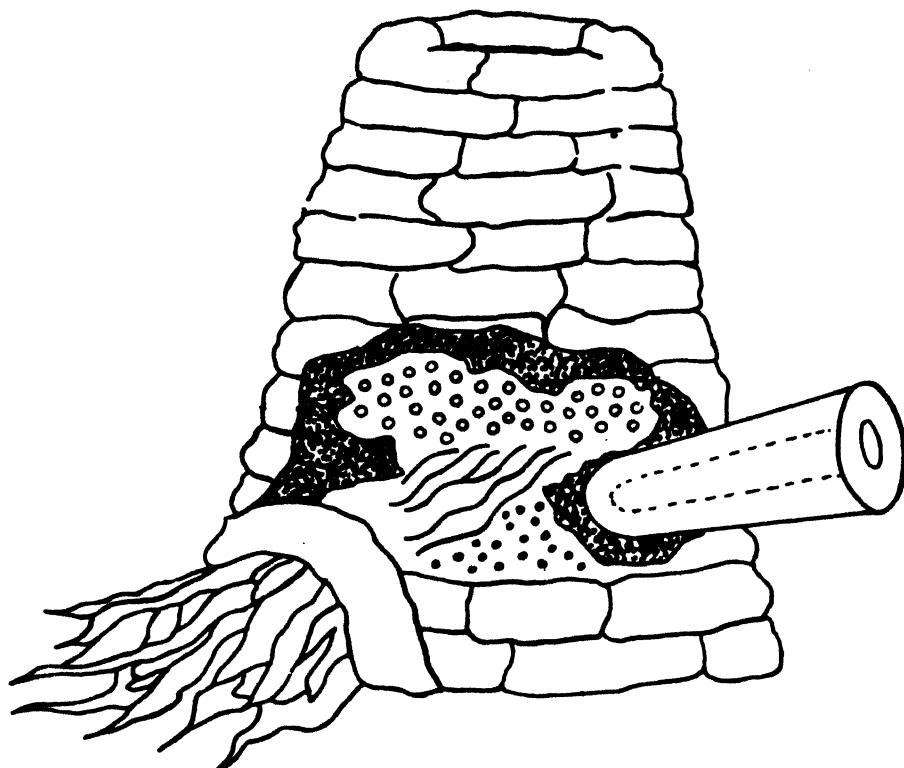
इन सभी पांचों सांस्कृतिक क्षेत्रों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लौह के उपयोग की शुरुआत 1000 ई.पू. और 800 ई.पू. के मध्य हुई होगी। यदि क्षेत्र ख में आहाड़ व क्षेत्र क में गुफक्राल के उत्खनन से प्राप्त लौह वस्तुओं की निर्धारित तिथि 1300 ई.पू. को मान लिया जाए, तो भारत में लौहयुग की शुरुआत इससे पहले हुई होगी। ख क्षेत्र के आहाड़ व नोह, जिनकी C-14 के आधार पर आंकी गई तिथियाँ 1200 ई.पू. तक हैं, प्राचीन ताम्र प्रगलन परंपराओं से जुड़े ताम्र समृद्ध क्षेत्र में स्थित हैं। संभवतः इन्हीं स्थानों में, ताम्र प्रगलन के दौरान, अचानक पेस्टी स्पंज लौह का उत्पादन हो गया होगा। इसके बाद योजनाबद्ध तरीके से इसका उत्पादन व उपयोग हुआ होगा।

इन पांचों क्षेत्रों की संस्कृति में कुछ समानताओं एवं ख व ग क्षेत्रों में, मिट्टी के बर्तनों व कुछ अन्य पुरावस्तुओं की एकरूपता को छोड़कर, बिल्कुल अलग लक्षण पाए जाते हैं। संस्कृति की इस असमानता से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में इन क्षेत्रों के विभिन्न केंद्रों में लौह तकनीकी का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ होगा। इस संबंध में यह बात उल्लेखनीय है कि इन सभी क्षेत्रों में लौह-आक्साइड अयस्क प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि, कुछ अपवादों को छोड़कर, 1000-800 ई.पू. के काल में पूरे उपमहाद्वीप में लौह का पूरी तरह प्रयोग हो रहा था। इस तथ्य से इस निष्कर्ष को बल मिलता है कि भारत में लौह तकनीकी का विकास, स्वदेश में

सारणी 6 : प्राचीन भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त औजार

औजार	क्षेत्र क	क्षेत्र ख	क्षेत्र ग	क्षेत्र घ	क्षेत्र च
तीरशीष	●	●	●	●	●
कुल्हाड़ी		●			
ब्लेड		●	●		●
कंगन				●	
वलैप			●		●
छेनी				●	
कुंड				●	
छुरा	●				●
जोड़ छूड़ी					●
मछली कांटा				●	
छल्ला	●				
घोड़े की लगाम की मुखरी			●		●
हुक					●
चाकू	●	●	●		●
कील		●	●		
नोकदार हथियार		●			
मेख		●			
अंगूठी			●		
तलवार के ब्लेड	●	●	●	●	●
तलवार				●	
खुरचनी	●				
भाले की नोक		●			●
लोहे की छड़ी		●			
दरांती		●			
नुकीला छड़			●		
पर्णाकार कोटरस्थ दंड			●		
कांटा	●				



चित्र 12 : नयकुण्ड (700 ई.पू.) से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर पुनर्निर्मित
महापाषाणकालीन लौह-गलन मष्टी

ही, स्वतंत्र रूप से हुआ था। भारत जैसे विशाल क्षेत्र में, इतने थोड़े से समय में, इस तकनीकी का धीरे-धीरे स्थानांतरण संभव नहीं है। उपर्लिखित सांस्कृतिक क्षेत्रों के परिवेश में भिन्नता से भी इस बात को अधिक बल मिलता है कि यह तकनीकी विकास कई स्थानों पर एकसाथ हुआ होगा।

स्वदेशी लौह तकनीकी की प्रगति

यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि लौह की प्रारंभिक खोज और इसके बेहतर गुणधर्मों की पहचान हो जाने के बाद लोगों के जीवनयापन के ढंग में सुधार तथा बढ़ते हुए नगरीकरण के कारण लौह की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, अगली कई सदियों में इसकी उत्पादन तकनीकी में निरंतर प्रगति होना अवश्यंभावी था। जैसे—जैसे बेहतर गुणधर्मों से युक्त लौह की उपलब्धता और इस्पात निर्माण—कला की निपुणता में वृद्धि होती गई, इसके उपयोग का दायरा भी उसी तेज़ी के साथ बढ़ता गया। शिकार में प्रयुक्त औजारों के अतिरिक्त, लौह का प्रयोग युद्ध के शर्कों, खेती के लिए उपकरणों और घरेलू उपयोग की वस्तुओं आदि के निर्माण में भी होने लगा।

प्रकाश और त्रिपाठी ने 1200 ई.पू. से 600 ई. तक के प्रारंभिक काल, 600 ई.पू. तक के मध्यकाल और 100 ई.पू. से 600 ई. तक के उत्तरवर्ती काल—इन तीनों चरणों से संबंधित स्वदेशी लौह तकनीकी के सतत विकास का विवरण प्रस्तुत किया है। इन तीनों चरणों में उपलब्ध उपकरणों, औजारों व दूसरी वस्तुओं को सारणी 7 में दिखाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रारंभिक चरण (1200–600 ई.पू.) में लौह का अधिकतर उपयोग भाले की नोक, तीर, नोकदार हथियार, छड़ी व फलक आदि शिकार के साधारण औजारों के लिए किया जाता था। इनके अतिरिक्त, खेती में प्रयुक्त कुछ दरांतियों व कुल्हाड़ियों और चाकू व सुई जैसी कुछ घरेलू वस्तुओं के लिए इसका उपयोग होता था। इस काल में निर्माण—कार्य में इस्तेमाल होने वाली छोटी छड़ें, कीलें व मेखें आदि भी उत्खनन के दौरान पाई गई हैं।

ऐसा लगता है कि मध्य चरण (600–100 ई.पू.) में लोहे के उपयोग में अत्यधिक विस्तार हुआ है। इस समय नए और इकहरे व दोहरे छड़ीदार तीरशीर्ष, नेजे, भाले, बल्लम, छुरा फलक, तलवार एवं हाथी के अंकुश आदि अधिक प्रभावशाली शर्कों का प्राचुर्य था। इस काल से संबंधित दरांती, कुदाली, फावड़ा, हल और कुल्हाड़ी आदि खेती के औजार भी काफी स्थलों से मिले हैं। चाकू, चकतियां, छल्ले, चम्मच व देगची आदि चीजें भी कुछ मात्रा में मिली हैं। उत्खनन से प्राप्त शिकंजे, नलियां, कोटर क्लैप, नलियों, सॉकेट, छेनी, जंजीर व हुक आदि की प्राप्ति विभिन्न

**सारणी 7 : लौह प्रौद्योगिकी के विकास के तीन चरणों में प्रयुक्त
औजार व उपकरण**

● : निश्चित अस्तित्व ○ : अनुपलब्ध □ : प्रमाणित तथ्य उपलब्ध नहीं

औजारों के प्रकार	औजार का नाम	प्रारंभिक चरण	मध्य चरण	अंतिम चरण
आखेटी औजार	भाले की नोक	●	●	●
	तीरशीर्ष	●	●	●
	नोकदार हथियार	●	□	□
	लोहे की छड़ी	●	□	□
	ब्लेड	●	●	□
	भाला, नेजा	□	●	□
	छुरा	□	●	●
	तलवार	□	●	●
	हाथी-अंकुश	○	●	●
	बल्लम	○	○	●
	कवच	○	○	●
	शिरस्त्राण	○	○	●
	घोड़े की लगाम की मुखरी	○	○	●
	गोखरू	○	○	●
कृषि औजार	कुलहाड़ी	●	●	●
	दरांती	●	●	●
	कुदाली	○	●	□
	फाल	○	●	□
	फावड़ा	○	●	●
	छेनी	○	●	●
	खोदनी	○	□	●
घरेलू वस्तुएं	चाकू	●	●	●
	चिमटा	●	□	□
	चकतियां	○	●	□
				जारी...

औजारों के प्रकार	औजार का नाम	प्रारंभिक चरण	मध्य चरण	अंतिम चरण
	छल्ला	○	●	□
	चम्मच	○	●	●
	छलनी	○	○	●
	कड़ाहा	○	○	●
	कटोरा	○	○	●
	तश्तरी	○	○	●
भवन निर्माण सामग्री	छड़ें	●	□	□
	मेख	●	□	□
	कील	●	●	●
	क्लैप	●	●	●
	नली	○	●	□
	सॉकेट	○	●	□
	साहुल पिंड	○	●	□
	जंजीर	○	●	●
	दरवाजे का हुक	○	●	□
	दरवाजे का हत्था	○	○	●
	कब्जा	○	○	●
	कील/खूंटी	○	○	●
	चिमटा	○	○	●
	निहाई	○	○	●
	हथौड़ा	○	○	●
	कंची	○	○	●
	आरी	○	○	●

निर्माण-कार्यों में लोहे के उपयोग की पुष्टि करती है।

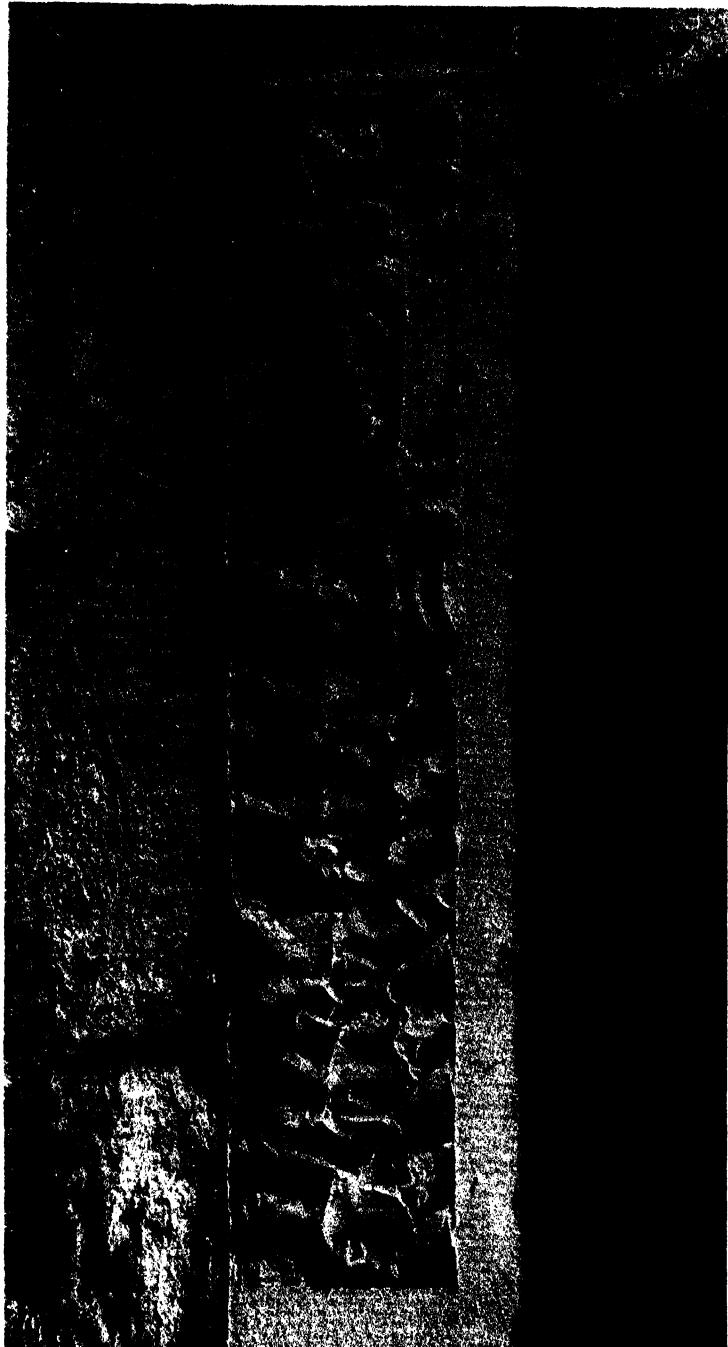
अंतिम चरण (100 ई.पू. - 600 ई.) में लौह तकनीकी अपने विकास की चरम सीमा पर थी, जिसमें दिल्ली के लौह-स्तंभ का निर्माण व उसकी स्थापना भी शामिल है। कुषाण साम्राज्य व गुप्त साम्राज्य, दोनों इसी काल में पूर्णतया विकसित हुए। इस काल में राजकीय संरक्षण प्राप्त शिल्पकारों ने विभिन्न प्रकार के कौशल के नए शिखर छुए। तक्षशिला से, जो इस काल का प्रमुख स्थल है, युद्ध व शिकार, दोनों के असंख्य नए हथियार मिले हैं। तलवार, नेजा, भाला, कवच, शिरखाण, हाथी-अंकुश और खेती में प्रयुक्त कसिया, फावड़ा, कुदाली, दरांती, बेलचा, खुरपा आदि भी तत्कालीन तक्षशिला से संबंध रखते हैं। चाकू, कलघ्ठी, चम्मच, छलनी, देगची, कड़ाहा, छोटी तश्तरी व तिपायी आदि दूसरी वस्तुएं इस काल में घरेलू उपयोग में लाई जाती थीं। राजाओं, सामंतों और जागीरदारों की आवश्यकतानुसार गुप्तकाल में राजमहलों और किलों के निर्माण में कीलों, शिकंजों, कुंडियों, चादरों, द्वार-मूर्ठ व खूटी आदि के रूप में अधिक मात्रा में लौह का उपयोग किया गया था।

लौह की भौतिक धातुकी : संक्षिप्त सर्वेक्षण

अब हमारे लिए आधुनिक भौतिक-धातुकी अर्थात् धातुओं व मिश्रधातुओं की संरचना व गुणधर्मों से संबंधित विज्ञान के कुछ पहलुओं को समझना व परखना आवश्यक है। प्रारंभ में यह बात बताना भी आवश्यक है कि आमतौर पर व्यापार व तकनीकी वृष्टि से शुद्ध धातुएं, गुणधर्म, कठोरता व सामर्थ्य आदि में निकृष्ट होने के कारण, कोई विशेष महत्व नहीं रखती है। एकाधिक तत्वों से निर्मित होने के कारण मिश्रधातुओं के गुणधर्म बेहतर होते हैं। इस कारण इंजीनियरी और तकनीकी क्षेत्रों में मिश्रधातुओं का प्रभुत्व है। उपयुक्त अभिकल्पना व संसाधन के माध्यम से इनके गुणधर्मों में सुधार भी किया जा सकता है। किसी विशेष धातु के आधार पर, व्यापारिक मिश्र 1×1 (30.5 सेंमी. \times 30.5 सेंमी.) या मिश्रधातुओं की शृंखला को एक विशेष व्यापारिक नाम दिया जाता है। उदाहरणतः, पीतल (Brass) व कांस्य (Bronze) ताम्र की मिश्रधातुएं हैं और इस्पात व ढलवां (कास्ट) लोहा लौह की मिश्रधातुएं हैं।

परिशुद्धता एक सापेक्षिक संकल्पना है। कुछ आवश्यकताओं के लिए 99 प्रतिशत शुद्धता ही काफी है, परंतु विशेष आवश्यकताओं के लिए धातुओं का 99.9 प्रतिशत, 99.99 प्रतिशत या इससे भी अधिक शुद्ध होना जरूरी माना जाता है। धातुओं की परिशुद्धता के संदर्भ में यहां एक बात बतानी आवश्यक है कि आमतौर पर धातुओं अथवा रसायनों की परिशुद्धता को दो नौ (99%), तीन नौ (99.9%), व चार नौ (99.99%), आदि द्वारा व्यक्त किया जाता है। उदाहरणतः, उच्च विद्युत व ऊर्जा चालकता पर आधारित उपयोगों के लिए ताम्र व एल्युमीनियम

लौह प्रौद्योगिकी का विकास



प्लेट 7 : स्तंभ के निकट के एक क्षतिग्रस्त मूर्तिशिल्प पर शयनावस्था में भगवान विष्णु की प्रतिमा

की परिशुद्धता लगभग 99 प्रतिशत होनी चाहिए। अनुसंधान सहित विशेष आवश्यकताओं के लिए हाल के दशकों में अधिक शुद्ध व परिशुद्ध धातुओं की मांग बढ़ती जा रही है। आमतौर पर, अधिक शुद्ध धातु के उत्पादन की प्रक्रिया एक जटिल व महंगा कार्य है। इसलिए अधिक शुद्ध धातुओं का उत्पादन, प्रायः, केवल ग्राम व किलोग्राम मात्रा में ही किया जाता है। इसके विपरीत, एक धमन-भट्टी में एक दिन में 10,000 टन लौह का उत्पादन करना संभव है। इसी प्रकार, सल्फर की मात्रा को दस लाख में 100 भाग तक नियंत्रित रखते हुए भी एक ओपन-हार्थ भट्टी में एक दिन में 1000 टन इस्पात का उत्पादन किया जा सकता है। इसी संदर्भ में, यहां इस सदी की उच्चमत शुद्धता वाली औद्योगिक प्रक्रिया "ज़ोन रिफाइनिंग" का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा, जिसके उपयोग से दस लाख में एक भाग से भी कम अपद्रव्य वाला अर्धचालक सिलिकान बनाया जाता है। सिलिकान आज कंप्यूटर व संचार माध्यमों के क्षेत्रों में सबसे महत्वपूर्ण पदार्थ है।

शुद्ध लौह के यांत्रिक गुणधर्म अधिक उपयुक्त नहीं हैं। वास्तव में 99.9 प्रतिशत शुद्धता के लोहे के टुकड़े को स्टेनलेस इस्पात से बने मजबूत व तेज चाकू से काटा जा सकता है। दो प्रतिशत तक कार्बन (आमतौर पर एक प्रतिशत से कम) व अल्पमात्रा में कुछ दूसरे तत्वों के, विशेषकर मैंगनीज (Mn) व सिलिकान (Si) के, जिनका उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान जाने या अनजाने ही समावेश हो जाता है, संयोजन से बनी मिश्रधातुओं को इस्पात के नाम से जाना जाता है। उपयुक्त तापीय व यांत्रिक उपचार के माध्यम से इनके यांत्रिक गुणधर्मों को काफी अच्छा बनाया जा सकता है। दो प्रतिशत से अधिक कार्बन और एक से तीन प्रतिशत सिलिकान जैसे कुछ और तत्वों के संयोजन से निर्मित मिश्रधातुओं को ढलवां लोहे का नाम दिया गया है। इसको गलाकर, आसानी के साथ कई जटिल आकार दिए जा सकते हैं। इसके कई गुणधर्म अत्यंत उपयोगी हैं।

लौह भौतिक-धातुकी, भौतिक-धातुकी की वह शाखा है जिसका संबंध वांछित गुणधर्मों से युक्त इस्पात व ढलवां लोहे के अभिकल्पन व संसाधन से है। अभिकल्पन प्रक्रिया में मिश्रण के लिए उपयुक्त तत्वों का चयन और वांछित भौतिक, रासायनिक, यांत्रिक व अन्य दूसरे गुणधर्मों की प्राप्ति के वास्ते आवश्यक सूक्ष्म-संरचना के लिए संसाधन विधियों का चयन आदि सम्मिलित हैं। लौह से मिश्रधातुओं के निर्माण के लिए, मिश्रण हेतु, बहुत सारे तत्व हैं जिनमें कार्बन (C), मैंगनीज (Mn), सिलिकान (Si), निकेल (Ni), क्रोमियम (Cr), मोलिब्डनम (Mo), एल्युमीनियम (Al) और बोरान (B) आदि शामिल हैं। सूक्ष्म मात्रा (0.2% तक) में मिलाए जाने वाले कुछ तत्व नायोबियम, टाइटेनियम व वेनेडियम आदि हैं, जिनके मिश्रण से विशेष गुणधर्मों से युक्त मिश्रधातुएं बनाई जाती हैं। अपद्रव्यों के रूप में उपस्थित सल्फर (S), फास्फोरस (P), आक्सीजन (O), नाइट्रोजन (N) व हाइड्रोजन (H) आदि तत्वों की

मात्रा पर विशेष नियंत्रण रखना पड़ता है। इनमें आक्सीजन, नाइट्रोजन व हाइड्रोजन गैसीय तत्व हैं। गलन, शोधन, ढलाई, तप्त बेल्लन, अतप्त बेल्लन, अनीलन, कठोरण, ऊर्जा उपचार और तापीय-यांत्रिक उपचार आदि कुछ आधुनिक संसाधन विधियाँ हैं। प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी में 1000 के आवर्धन से सूक्ष्म संरचना के जिन पहलुओं का परीक्षण किया जा सकता है, उसमें प्राथमिक प्रावस्था के कणों का आमाप तथा द्वितीयक प्रावस्था के आमाप, मात्रा, वितरण व संघटन और कण-सीमा पर गौण व अपद्रव्य प्रावस्थाओं का संभावित जमाव आदि शामिल हैं। इस प्रकार, इस चर्चा से यह स्पष्ट है कि आज के संदर्भ में इस्पात व ढलवां लोहे के अभिकल्पन में तत्वों के मिश्रण, संसाधन व सूक्ष्म संरचनात्मक पहलुओं के परस्पर संबंध जैसी जटिल प्रक्रियाओं का समावेश है। इस क्षेत्र में अधिकतर वैज्ञानिक सिद्धांतों, सहसंबंधों और व्यावहारिक ज्ञान आदि का विकास व परीक्षण गत 150 वर्षों में, विशेषकर दूसरे विश्वयुद्ध (1939-1945) के बाद ही हुआ है।

• • •

निर्माण-विधि

प्राचीन भारत में उपलब्ध लौह तकनीकी से संबंधित जानकारी चौथे अध्याय में दी गई है। अब इस पृष्ठभूमि में प्रथ्यात दिल्ली लौह-स्तंभ की निर्माण-विधि की चर्चा करना आसान है। स्तंभ के विभिन्न भागों से लिए गए नमूनों का रासायनिक विश्लेषण और इससे संबंधित अन्य तथ्यों व आंकड़ों को पहले अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। अब 1962 से 1992 के बीच स्तंभ पर हुए धातुकर्म संबंधी अध्ययनों की समीक्षात्मक चर्चा की जाएगी, जिससे लौह उत्पादन तकनीकी और तत्पश्चात् स्तंभ-निर्माण प्रक्रिया की जानकारी उपलब्ध हो सकेगी। इस संबंध में इस बात का उल्लेख विशेष महत्व रखता है कि वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद (CSIR) की धातु अनुसंधान समिति ने दिल्ली-स्तंभ और मध्यप्रदेश व उड़ीसा के जंगलों व अल्पविकसित क्षेत्रों में सदियों पुरानी प्रक्रिया से आज भी बनने वाले आदिवासी लौह संबंधी अध्ययन हेतु एक अनुसंधान परियोजना की शुरुआत छठे दशक के प्रारंभ में ही की थी। इस प्रकार स्वतंत्र भारत के वैज्ञानिकों व तकनीकियों ने अनुसंधान के उस क्षेत्र में प्रवेश किया जिस पर उस समय तक, अधिकतर, पाश्चात्य अनुसंधानकर्ताओं का एकाधिकार था।

वैज्ञानिक प्रेक्षण

ब्रिटिश वैज्ञानिक डब्ल्यू. ई. बार्जट व जे. एफ. स्टैनर्स ने दिल्ली-स्तंभ : संक्षारण पहलुओं का अध्ययन नामक अपनी एक उल्लेखनीय कृति में 1963 में कहा था कि इस स्तंभ के लौह की किसी समय भी द्रवित अवस्था में होने की संभावना नगण्य है। इसके अतिरिक्त, इस विषमांगी संरचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस स्तंभ का ऊष्मा उपचार भी नहीं किया गया है। यह बात लगभग निश्चित है कि इतने समय पहले इस प्रकार की बृहत् लौह संरचना के निर्माण के लिए इसके अंतिम चरण में लोहे के गर्म पिंडों को लगातार हथौड़ों की मार द्वारा फोर्ज किया गया होगा। इसकी ऊपरी सतह को समतल बनाने के लिए घन-ताड़न प्रक्रिया को बार-बार दोहराया गया

होगा। यह स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया को पूरा करने में काफी समय लगा होगा। इस अंतराल में सतह पर एक आक्साइड-परत बन गई होगी, जिसका घन-ताड़न के दौरान सतह के अंदर समावेश हुआ होगा। इस आक्साइड-परत में धातुमल भी मिल गया होगा।

प्राचीन दिल्ली लौह-स्तंभ और उड़ीसा के कोणार्क, दिल्ली के समीप के सुल्तानगंज व महाराष्ट्र के सिंहबाद जैसे स्थलों से प्राप्त अपेक्षतया कम प्राचीन आवशेषों के विस्तृत व योजनाबद्ध रासायनिक, स्पेक्ट्रम-रासायनिक, एक्स-किरण, सूक्ष्मदर्शी एवं यांत्रिक अध्ययनों के फलस्वरूप एम. के. घोष ने 1963 में दिल्ली लौह-स्तंभ और इसका लौह नामक लेख में अनेक दिलचस्प निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अनुसार, स्तंभ-लौह की संरचना व उसके रासायनिक संयोजन और सदियों से भारत की प्राचीन भट्ठियों में निर्मित विभिन्न प्रकार की लौह-वस्तुओं में काफी समानता है। परंतु अत्यधिक यांत्रिक कर्मण के कारण स्तंभ के लौह के गुणधर्म कुछ भिन्न हैं। उनके कुछ और निष्कर्ष जो, उनके अनुसार, हमारे अधिकतर प्राचीन लौह-नमूनों पर भी लागू होते हैं, इस प्रकार हैं :

1. स्तंभ-लौह की संरचना विषमांगी है।
2. स्तंभ-लौह के संघटन की तुलना आधुनिक निम्न कार्बन इस्पात से की जा सकती है।
3. स्तंभ को अत्यंत प्रभावशाली फोर्ज वेल्डन प्रक्रिया द्वारा तैयार किया गया है।
4. स्तंभ-लौह में मैंगनीज (Mn) की मात्रा नगण्य है, परंतु फास्फोरस (P) की मात्रा अधिक है।

उसी वर्ष लाहिड़ी, बनर्जी व निझावन ने प्राचीन दिल्ली लौह-स्तंभ के संक्षारण-प्रतिरोध और प्राचीन विधियों से वर्तमान में निर्मित आदिवासी लौह पर कुछ टिप्पणियां नामक लेख में धातुकीय परीक्षण व संक्षारण अध्ययन पर विस्तृत चर्चा की, जिससे स्तंभ संबंधी पहले के परिणामों की पुष्टि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दिल्ली-स्तंभ की उच्च संक्षारण-प्रतिरोध क्षमता का संबंध इसके निर्माण में प्रयुक्त प्रगलन व निर्माण विधि है। प्रगलन प्रक्रिया के दौरान स्पंज-लौह में धातुमल के शामिल होने और फोर्जन प्रक्रिया के दौरान आपस में अच्छी तरह से गुंथ जाने का इसमें विशेष योगदान है।

स्तंभ-निर्माण

रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालोजी, स्टाकहोम के जी. रैंगलेन ने 1970 में दिल्ली का जंग-रहित स्तंभ नामक एक विस्तृत समीक्षात्मक लेख प्रकाशित किया। इस

वैज्ञानिक के अनुसार, स्तंभ पिटवां लौह से बना है और यह लौह कभी भी द्रवित अवस्था में नहीं था। इसका लौह-अयस्क, संभवतः अपक्षयित ऐनेटाइट था, जिसे सतही खनन द्वारा प्राप्त किया गया था। इस अयस्क को काठकोयले द्वारा प्रज्वलित एक छोटी भट्टी में बार-बार काठकोयले के साथ गरम किया गया था। इस भट्टी का प्रचालन पैर-चालित धौंकनी द्वारा किया गया था। इस प्रकार प्राप्त स्पंज-लौह के तप्त पिंडों को, अधिकतर धातुमल को बाहर निकालने के लिए, ताड़न प्रक्रिया द्वारा फोर्ज किया गया। स्तंभ की सतह पर दृष्टिगत वेल्ड रेखाओं से ऐसा लगता है कि इस स्तंभ के निर्माण के लिए 20-30 किलोग्राम वजन के बहुत सारे पिंडों का उपयोग किया गया है। इन लौह पिंडों को काठकोयला वात भट्टी द्वारा प्रज्वलित करके फोर्ज वेल्ड किया गया है। स्तंभ की सतह पर हथौड़े की मार के निशान आज भी मौजूद हैं।

इस संबंध में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है कि छह टन से अधिक भार वाले इस भव्य स्तंभ को बनाने में उस काल के धातुकर्मियों को कितना समय लगा होगा। यदि यह मान लिया जाए कि उस काल की भट्टियों में, एक बार की निष्कर्षण प्रक्रिया में, जिसमें कई घंटे लगते थे, 20-30 किलोग्राम पेस्टी स्पंज-लौह का उत्पादन होता होगा, तो इस लौह-स्तंभ के निर्माण में तप्त फोर्जन और आकार देने के लिए आवश्यक लौह उत्पादन हेतु 250-300 बार निष्कर्षण प्रक्रिया को संपन्न किया गया होगा। यदि एक निर्धारित क्रम के अनुसार प्रचालित दस भट्टियों में, प्रति कार्य-दिवस में, दो बार निष्कर्षण प्रक्रिया को संपन्न किया गया हो, तो लौह-स्तंभ की फोर्जन प्रक्रिया के लिए आवश्यक लौह के उत्पादन में कम से कम दो सप्ताह लगे होंगे। यदि हम मान लें कि प्रत्येक भट्टी पर दस कर्मिकों और घन-ताड़न प्रक्रिया में कम से कम एक दर्जन मजदूरों ने काम किया हो, तो इस असाधारण व निःसंदेह अग्रणी परियोजना को संपन्न करने में लगभग 120 शिल्पकारों व मजदूरों ने दो सप्ताह तक काम किया होगा। स्पष्ट है कि इन कर्मिकों व मजदूरों का नेता अत्यधिक निपुण एवं कुशल धातुकर्मी रहा होगा तथा कारीगरों को उस समय भी इस प्रकार की जटिल इंजीनियरी प्रक्रिया और भट्टी के तकनीकी नियंत्रण में विशेषज्ञता प्राप्त थी, ताकि आवश्यकतानुसार बार-बार लगभग समान संघटन के लौह का उत्पादन किया जा सके।

ग्रेट ब्रिटेन की हिस्टारिकल मेटलर्जी सोसायटी के आर. एफ. टाइलकोट ने 1984 में प्रकाशित भारत में प्रारंभिक धातुकी नामक अपने लेख में अलीगढ़ के धातुकर्मियों द्वारा 1924 में दिए गए एक ब्रिटिश यात्री के दिल्ली-स्तंभ संबंधी प्रश्न के उत्तर का उल्लेख किया है। यहां उस उत्तर को पूर्णतया उद्धृत करना उचित होगा।

सर्वप्रथम पर्याप्त मात्रा में शुद्ध ग्वालियर अयस्क एकत्र किया गया होगा जिसे केवल काठकोयले के साथ गर्म करने से शुद्ध लौह अथवा मृदु इस्पात

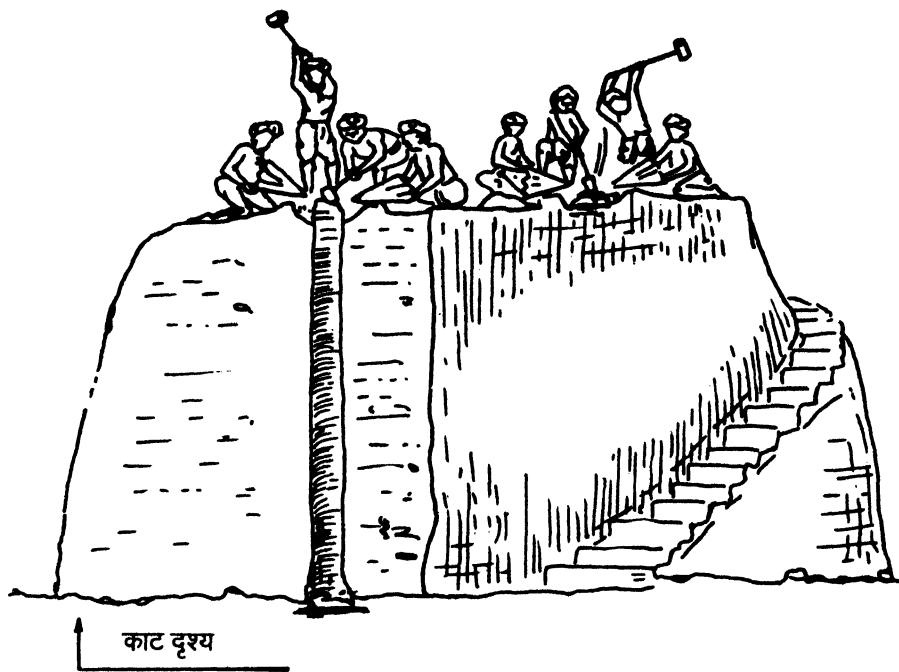
बनाया जा सके व बाद में घन-ताड़न प्रक्रिया से इसे बिलटों में बदला जा सके। तत्पश्चात् इस अयस्क को स्तंभ के स्थाना-स्थल पर स्थानांतरित किया गया होगा। जमीन में गड्ढा करके व उसमें अयस्क का ढेर लगाकर उसके ऊपर काठकोयले को सुलगाकर रख दिया गया होगा। सुलगते हुए काठकोयले पर छह या आठ धौंकनियों से इस अयस्क व काठकोयले के मिश्रण के केंद्र की ओर लगाए गए तुंडों (*nozzles*) द्वारा हवा देकर इसे वात-भट्टी का रूप दिया गया हो। इससे थोड़ी दूरी पर इसी प्रक्रिया को दोहराकर, दूसरी वात भट्टी तैयार की गई होगी। इस प्रकार, श्वेत तप्त लौह के दो पिंड एक-दूसरे के आस-पास उपलब्ध होंगे।

जब ये पिंड वेल्डन ताप पर होंगे तब ऊपर के काठकोयले को हटाकर, लीवरों की सहायता से दूसरे पिंड को पहले पिंड के ऊपर उलट दिया गया होगा। इसके पश्चात् घन-ताड़न द्वारा वेल्डन कार्य पूरा किया गया होगा। इसी प्रकार अन्य पिंडों को वेल्ड किया गया होगा और खुरदरी बाहरी सतह को छेनी से ठीक किया गया होगा। इस प्रकार प्राप्त बड़े पिंड को मिट्टी से ढक दिया गया होगा। इस प्रकार इन सतहों पर फोर्जन व वेल्डन प्रक्रिया को बार-बार दोहराकर, फिर इसके चारों ओर इस प्रकार मिट्टी भरी होगी कि फोर्जन द्वारा प्राप्त पिंड की थोड़ी सी सतह खुली रहे। संभवतः, आज के इस विष्यात् स्तंभ का निर्माण इस प्रकार हुआ होगा। अंततः, संपूर्ण स्तंभ की बाहरी सतह को छेनी की काट-छांट द्वारा ठीक करके सही बेलनाकार आकृति का रूप दिया गया होगा।

स्तंभ-निर्माण की यह विधि युक्तिसंगत प्रतीत होती है। वास्तव में, ग्रेट ब्रिटेन में चेडवर्थ, कैटरिक व कोर्बिज शहरीरों के निर्माण हेतु भी इसी प्रक्रिया को अपनाने का सुझाव दिया गया था। सन् १९८१ में प्रकाशित अपने समीक्षात्मक लेख में राव ने स्तंभ के फोर्जन की इस विधि का एक कलाकार की दृष्टि से चित्र प्रस्तुत किया है। इसे कुछ मामूली परिवर्तनों के साथ चित्र १३ में दर्शाया गया है।

भारतीय अध्ययन

बी. बी. लाल ने १९८८ में दिल्ली-स्तंभ पर एक विस्तृत समीक्षा तैयार की जिसे १९८९ में प्रकाशित किया गया। सातवें दशक के प्रारंभ में, जब वे भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग में प्रमुख पुरातात्त्विक रसायन के पद पर आसीन थे, उन्होंने इस संबंध में जो अध्ययन किए थे उन्हीं पर समीक्षा आधारित थी। धातु-चित्रण परीक्षण के आधार पर उनका विचार है कि दिल्ली-स्तंभ का निर्माण ढलाई प्रक्रिया द्वारा नहीं किया गया था, बल्कि इसका निर्माण पेस्टी तप्त लौह के पिंडों से, कई



चित्र 13 : लौह-स्तंभ का फोर्जन : एक कलाकार की दृष्टि में

चरणों में, घन-ताढ़न प्रक्रिया द्वारा वेल्ड फोर्जन करके संपन्न किया गया होगा।

१९८९ में नई दिल्ली की राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला में कार्यरत बी. बिंदल के नेतृत्व में एक दल ने, पहली बार, दिल्ली-स्तंभ के अध्ययन हेतु पराश्रव्य अविनाशी परीक्षण की स्पंद प्रतिध्वनि विधि का उपयोग किया। लगभग ४०० वोल्ट की उच्च वोल्टता की अल्पकाल की स्पंदों को ट्रांसड्यूसर प्रोब में भेजकर पराश्रव्य त्रुटि संसूचक की सहायता से विद्युत स्पंदों को पराश्रव्य स्पंदों में बदला जाता है। यहां रिक्तियां या व्यतिक्रम दो माध्यमों के अंतरापृष्ठ का काम करते हैं जहां से पराश्रव्य तरंगे परावर्तित हो जाती हैं। यदि कणों का माप पराश्रव्य पुंज के तरंगदैर्घ्य से बड़ा है, तो स्तंभ के लोहे की कण-सीमाएं पराश्रव्य तरंगों को बेतरतीब तरीके से विभिन्न दिशाओं में प्रकीर्ण करेंगी। अंततः, पराश्रव्य ऊर्जा का विद्युत स्पंदों में परिवर्तन हो जाता है और पराश्रव्य त्रुटि संसूचक की कैथोड-किरण स्क्रीन पर, उचित प्रवर्धन व दिष्टकरण के बाद, सिग्लन देखा जा सकता है। इस जटिल अविनाशी विधि के उपयोग द्वारा दिल्ली के वैज्ञानिकों ने इस बात की पुष्टि की कि दिल्ली-स्तंभ की संरचना विषमांगी है और इसके विभिन्न स्थानों की संरचना का अंतर भी काफी अधिक है। इसका कण-माप बड़ा है। इस स्तंभ के अंदर बड़ी रिक्तियों व व्यतिक्रमों की उपस्थिति का भी कोई संकेत नहीं मिलता है।

मैग्नेटाइट (Fe_3O_4) के अवकरण से संबंधित नई जानकारी के आधार पर, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IIT), कानपुर के आर. के. दुबे ने १९९० में प्राचीन व मध्यकालीन भारत में चूर्ण तकनीकी के कुछ पहलू नामक अपने लेख में यह सुझाव दिया है कि अयस्क की काठकोयला अवकरण प्रक्रिया से प्राप्त स्पंज लौह के टुकड़े, वास्तव में, अत्यधिक संरंधता वाले लौह कणों के पिंड होंगे। उनके विचार से इस निष्कर्ष पर पहुंचना कि दिल्ली लौह-स्तंभ का निर्माण डाई में सीधे अवकरणित लौह पिंडों के क्रमिक तप्त फोर्जन से किया गया है, युक्तिसंगत है। आधुनिक चूर्ण फोर्जन तकनीकी से इस विधि की काफी समानता है। इनमें अंतर केवल इस बात का है कि चूर्ण फोर्जन विधि का उपयोग अवयवों को जोड़कर लंबी वस्तुएं बनाने में नहीं होता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्राचीन काल में भारतीयों ने आधुनिक चूर्ण उत्पादन, चूर्ण संपिण्डन और सिंटरन चरणों को एक ही प्रक्रिया में समाहित कर रखा था।

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी में कार्यरत बी. प्रकाश व वी. त्रिपाठी (१९८६) और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर के ए. के. बिस्वास (१९९१) ने अपनी दो विशेष समीक्षाओं में प्राचीन भारत में धातुकर्म के संबंध में चर्चा की है जिसमें उन्होंने विख्यात लौह-स्तंभ की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। वाराणसी के वैज्ञानिकों ने इस संबंध में विस्मय प्रकट किया है कि क्या इतने विशाल लौह-स्तंभ की रचना

के लिए पैनकेक फोर्जन विधि एक व्यावहारिक तरीका हो सकता है। परंतु बिस्वास इन निष्कर्षों से सहमत हैं कि दिल्ली-स्तंभ के निर्माण में फोर्ज वेल्डन प्रक्रिया का ही प्रयोग किया गया है। उनका मत है कि लौह-स्तंभ के निर्माण में 20-30 किलोग्राम भार के अनेक पिंडों को, काठकोयला वात भट्टी द्वारा गर्म करके फोर्ज वेल्डन प्रक्रिया का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है। स्तंभ की सतह पर वेल्ड-रेखाओं व घन-ताड़न प्रक्रिया के निशानों की उपस्थिति इस विचार की पुष्टि करती है। लौह-स्तंभ की अधिकतम सामर्थ्य, लगभग समान पराभव बिंदु (yield point) और उच्च घनत्व, निम्न संरंधता व सूक्ष्म संरचना में सर्पण रेखाएं इसके निर्माण में उच्च यांत्रिक कर्मण की पुष्टि करती हैं। बिस्वास के अनुसार, दिल्ली-स्तंभ के फोर्ज वेल्डन की गुणवत्ता बहुत अच्छी है और यह इसके बाद निर्मित कोणार्क शहतीरों से निश्चित रूप से बेहतर है।

● ● ●

अध्याय 6

संक्षारण प्रतिरोध

दिल्ली का लौह-स्तंभ जनसाधारण तथा विद्वानों, विशेषतः रसायनज्ञों व धातुविदों, सभी के लिए निरंतर जिज्ञासा का विषय रहा है। इसके दो मुख्य कारण हैं। इस उत्सुकता का प्रथम कारण है – धातु के उत्पादन व इस संरचना के निर्माण की तकनीकी। सदियों पूर्व इतने अधिक भार व आकार के धात्विक स्तंभ को बनाने के लिए अपनाई गई विधि को सभी जानना चाहते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि सोलह सौ वर्षों तक निरंतर धूप, हवा व वर्षा में रहने के बावजूद यह स्तंभ आज भी भलीभांति सुरक्षित है। धातुशिल्प के इस चमत्कार के रहस्य के बारे में जानने की इच्छा सभी के मन में है। पहले पक्ष की विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। यह स्तंभ, जिसे कई लोग “जंग-रहित आश्चर्य” भी कहते हैं, संक्षारण-प्रतिरोध का एक अविश्वसनीय उदाहरण है। इस अध्याय में स्तंभ के इसी पहलू पर विस्तृत चर्चा की जाएगी।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दिल्ली के इस लौह स्तंभ ने सदियों तक धूप, वर्षा, गर्मी व सर्दी में खड़ा रहने के बावजूद जिस असाधारण और रहस्यपूर्ण संक्षारण-प्रतिरोध का प्रदर्शन किया है उसके बारे में कई व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं। अधिकतर व्याख्याओं पर व्यापक चर्चा हुई है और इनमें से अनेक व्याख्याओं को असंभावित, भास्मक, काल्पनिक, अविश्वसनीय अथवा अतार्किक और अमान्य कहकर इनकी आलोचना की गई है। स्तंभ के संक्षारण-प्रतिरोध के बारे में कुछ व्याख्याएं वाकई असंगत विचारों पर आधारित हैं; जैसे कि स्तंभ की स्थिति, उसका आकार-प्रकार, धार्मिक कर्मकांडों के कारण सतह का तेलयुक्त चिकनापन जैसी भ्रामक मान्यताएं अथवा जंग व क्षय से बचाने के लिए किसी प्राचीन लेप का उपयोग आदि। वैज्ञानिक व्याख्याएं स्थानीय जलवायु तथा पर्यावरण, इसकी निर्माण-तकनीकी, एक परिरक्षक आक्साइड परत की उपस्थिति, संरचना के बृहत आकार, ऊष्माधारिता, धातुमल व अंतर्वैश्वानों (inclusions) के कारण सतह के विशेष गुणधर्म, स्तंभ के अनुस्थापन की स्थिति (orientation), गीला रहने और सूखेपन

का अंतराल तथा धातु की शुद्धता (फास्फोरस की अधिक मात्रा तथा मैग्नीज की अनुपस्थिति) आदि पर आधारित हैं। इससे पहले कि इस स्तंभ की तथाकथित “संक्षारण-हीनता” की विभिन्न व्याख्याओं का मूल्यांकन किया जाए, संक्षारण के बारे में कुछ मूलभूत सिद्धांतों को समझ लेना आवश्यक है। संक्षारण-विज्ञान ने इस शताब्दी में काफी उन्नति की है। वास्तव में, धात्विक संक्षारण पिछली कुछ दशाब्दियों से शैक्षणिक तथा अनुसंधान, दोनों ही दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है।

विज्ञान की दृष्टि से, किसी पदार्थ की अपने पर्यावरण के साथ अपकर्षण (degradative)—अंतर्क्रिया को संक्षारण शब्द द्वारा परिभाषित किया जाता है। यद्यपि इस शब्द को साधारणतया धातुओं अथवा धात्विक पदार्थों (इस्पात, ढलवां लोहा, पीतल, कांसा आदि मिश्रधातुओं) के लिए प्रयोग किया जाता है, परंतु यह अन्य पदार्थों, विशेषतः पत्थर, ईंट व कंक्रीट आदि अकार्बनिक पदार्थों के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है। यहां यह भी बताना उचित होगा कि पदार्थ के प्रयोग के दौरान होने वाली कई अपकर्षण—अंतर्क्रियाओं में से संक्षारण एक है। क्षरण (wear), श्रांति (fatigue), विभंजन (fracture), पराबैंगनी अपकर्षण (degradation), आक्सीकरण, फफूंदी (mildew) तथा सड़न (rot) आदि क्रियाविधियां वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्र में सुपरिचित हैं। इन अपकर्षण प्रक्रियाओं के कारण उपभोक्ता को वस्तुओं के रख-रखाव, मरम्मत अथवा बदलने के लिए काफी खर्च करना पड़ता है। यह खर्च आर्थिक दृष्टि से हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके कारण पदार्थ, पूंजी, ऊर्जा तथा श्रम आदि के रूप में काफी संसाधन नष्ट होते हैं। यदि ये हानिकारक अभिक्रियाएं रोकी जा सकें, तो इन पर होने वाले खर्च को अन्य कार्यों में लगाकर उसका सदुपयोग किया जा सकता है।

संक्षारण, विशेषतः धात्विक संक्षारण, के बारे में कई देशों में विभिन्न प्रकार के अध्ययन किए गए हैं तथा राष्ट्रीय स्तर पर इस क्रिया से होने वाली हानि का अनुमान लगाया गया है। उदाहरण के लिए, अमरीका के राष्ट्रीय मानक ब्यूरो (NBS) ने विस्तृत अध्ययन के बाद 1978 में अमरीकी कांग्रेस को अपनी रिपोर्ट में बताया कि संक्षारण के कारण, 1975 में, वहां 70 अरब अमरीकी डालर [सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) का लगभग चार प्रतिशत] की हानि हुई। इन विशेषज्ञों ने यह भी बताया कि इस खर्च में से सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 0.7 प्रतिशत बचाया जा सकता था। यदि इन आंकड़ों में कुछ अनिश्चितता भी मान ली जाए, तब भी स्पष्ट है कि संक्षारण-प्रतिरोध तकनीकी के विकास तथा इसके विस्तृत उपयोग द्वारा संक्षारण और उससे हो रही हानि को काफी कम किया जा सकता है।

संक्षारण का परिणाम केवल आर्थिक हानि ही नहीं है। इसमें स्वास्थ्य

(शरीर में आरोपित धात्विक अंग), सुरक्षा (वाहनों अथवा संरचनाओं की विफलता) एवं तकनीकी (नई तकनीकी के विकास में बाधा) आदि क्षेत्रों में संक्षारण से होने वाले अवांछित दुष्परिणाम भी शामिल हैं। इसलिए संक्षारण को रोकने व नियंत्रित करने से संबंधित अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

लौह और इस्पात का संक्षारण

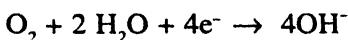
इस पुस्तक की भूमिका में कहा जा चुका है कि लौह और इस्पात सबसे अधिक प्रयुक्त इंजीनियरी पदार्थ हैं और इनकी खपत बाकी सभी धातुओं की कुल खपत से भी अधिक है। कई औद्योगिक प्रक्रियाओं में अति क्षारीय अथवा अति अम्लीय रसायनों का प्रयोग होता है। ऐसे उपयोग के लिए लौह या इस्पात तभी प्रयुक्त हो सकता है जब उसकी सतह को धातु, सीमेंट या किसी जैव पदार्थ की परत द्वारा सुरक्षित किया जाए अथवा उसकी मिश्रधातु बनाई जाए। स्टेनलेस इस्पात, जिसमें कम से कम 11% क्रोमियम होता है, संक्षारण-प्रतिरोध का एक उत्तम उदाहरण है। इसके कई उपयोग हैं। लौह और इस्पात आमतौर पर हवा, पानी व मिट्टी जैसे प्राकृतिक तत्वों के संपर्क में आते हैं। अब यह सिद्ध हो चुका है कि अमिश्रित लौह व इस्पात का संक्षारण मुख्यतः पर्यावरण की तीव्रता पर निर्भर करता है। इनकी संक्षारण-दर पर सूक्ष्म संरचना तथा संघटन में परिवर्तन का प्रभाव, पर्यावरण के प्रभावों से कम होता है।

संक्षारण से संबद्ध सभी रासायनिक अभिक्रियाएं इलेक्ट्रानों (ऋणावेशित कणों) तथा धात्विक आयनों के कारण होती हैं। धातु के परमाणुओं में से इलेक्ट्रान निकलने पर वे धनावेशित आयन बनते हैं। इलेक्ट्रान, बिना विशेष ऊर्जा-हास के, धातु में दूर तक संचरण कर सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि संक्षारण पैदा करने वाले परिवर्तन वैद्युत-रासायनिक हैं तथा संक्षारण की क्रिया वैद्युत-रासायनिक सिद्धांतों के द्वारा ठीक से समझी जा सकती है।

लौह और इस्पात के संक्षारण, जिसे सामान्य भाषा में जंग लगना कहते हैं, में सतह के धनोदी स्थलों (anodic sites) पर धातु घुलती है। इस अभिक्रिया को निम्नलिखित समीकरण से प्रदर्शित किया जा सकता है :



प्राकृतिक पर्यावरण, आमतौर पर, लगभग उदासीन (न अम्लीय, न क्षारीय) या मामूली क्षारीय होते हैं। इस स्थिति में, संतुलनकारी ऋणोदी (cathodic) अभिक्रिया इस प्रकार होती है :



यह वैद्युत-रासायनिक प्रक्रिया चित्र 14 में दर्शायी गई है।

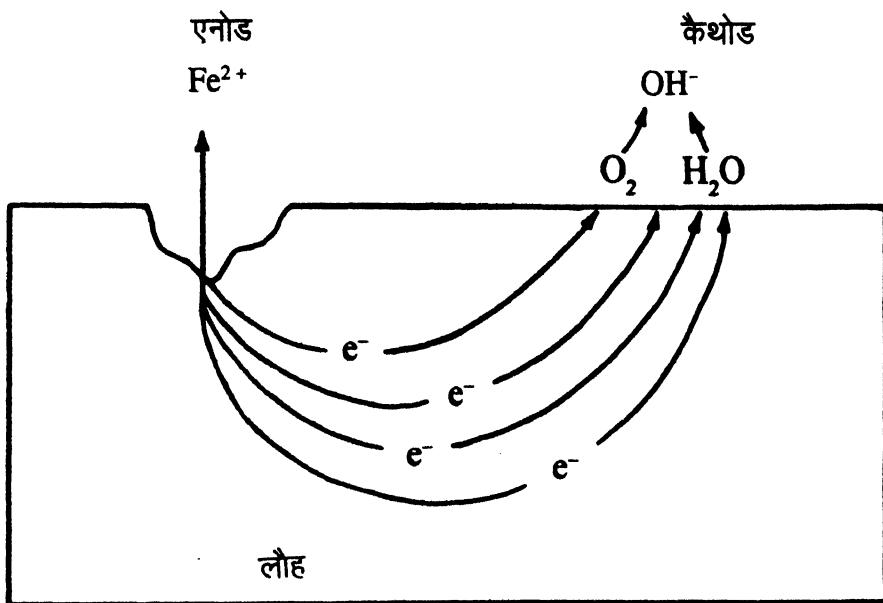
यहां विशेष तौर पर जानने लायक बात यह है कि लौह तथा इस्पात का संक्षारण तभी होता है जब धातु के धनोदी विलयन (anodic dissolution) से उत्पन्न इलेक्ट्रानों का प्रयोग करने के लिए पर्यावरण में आक्सीजन तथा पानी (अथवा उच्च आर्द्रता) एक साथ मौजूद हों। साधारणतया, फेरस आयन (Fe^{2+}) तथा हाइड्रोक्सिल आयन (OH^-) मिलकर फेरस हाइड्राक्साइड Fe(OH)_2 बनाते हैं, जो बाद में आक्सीकरण द्वारा फेरिक हाइड्राक्साइड Fe(OH)_3 में परिवर्तित हो जाते हैं। यह Fe(OH)_2 जलयोजित जंग (hydrated rust) का मुख्य घटक है, यद्यपि इसमें अन्य धात्विक आक्साइड तथा सल्फेट जैसे लवण भी भिन्न-भिन्न मात्रा में हो सकते हैं। जंग का भौतिक गुण हल्का, भंगुर, भुरभुरा और न चिपकने वाला होता है और यह सतह से बार-बार भूरे चूर्ण के रूप में झड़ता रहता है। इस प्रकार जंग सतह को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करता है तथा यह प्रक्रिया लगातार जारी रहती है। जंग लगने की दर लौह व इस्पात के आसपास के पर्यावरण पर निर्भर करती है।

संक्षारण कई प्रकार के हैं, जिनकी चर्चा नीचे की गई है।

वातावरणीय संक्षारण

यदि सापेक्षिक आर्द्रता 60 प्रतिशत से कम हो तो भवनों के अंदर तथा स्वच्छ व प्रदूषण-रहित ग्रामीण क्षेत्रों में लौहे और इस्पात के संक्षारण की दर बहुत कम होती है। परंतु जब गीला रहने की अवधि बढ़ती है और हवा में औद्योगिक प्रदूषकों की मात्रा अथवा समुद्री स्थलों पर क्लोरोआइड की मात्रा बढ़ती है, तो संक्षारण की दर तेज़ हो जाती है। यद्यपि प्रकृति में उपलब्ध क्लोरोआइड लवण (जैसे, साधारण नमक) सामान्यतः उदासीन होते हैं, परंतु उनकी विद्युत चालकता बहुत अधिक होने के कारण वे संक्षारण की वैद्युत रासायनिक प्रक्रियाओं में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त स्तोडियम क्लोरोआइड जैसे ये यौगिक आर्द्रताग्राही या नमी सोखने वाले होते हैं। इसलिए वे कम आर्द्रता पर भी संक्षारण का कारण बन सकते हैं। सबसे अधिक हानिकारक औद्योगिक प्रदूषक सल्फर डाइआक्साइड (SO_2) है जो नमी से मिलकर तनु सल्फ्यूरस अम्ल तथा सल्फ्यूरिक अम्ल बनाती है जिसे अम्ल वर्षा (acid rain) कहा जाता है। इसी कारण से SO_2 संक्षारण-दर को बढ़ा देती है।

ग्रामीण, औद्योगिक व समुद्री स्थलों के लिए साधारण (अभिश्रित) लौह एवं इस्पात की संक्षारण-दरें सारणी 8 में दी गई हैं। हम देखते हैं कि विभिन्न पर्यावरणों के लिए संक्षारण-दरों में काफी अधिक अंतर है तथा दिल्ली की संक्षारण-दर काफी कम है। परंतु बढ़ती आबादी (परिणामतः वाहनों की संख्या में वृद्धि) तथा तेजी के साथ



चित्र १४ : संक्षारित हो रही लौह-सतह पर कैथोडी व एनोडी स्थलों के बीच विद्युत-रासायनिक सेल की स्थापना



प्लेट 8 : स्तंभ के कंदाकार आधार पर संक्षारण-प्रभाव तथा
घन-फोर्जन की वेल्ड रेखाएं

बढ़ती उद्योगों की संख्या के कारण आने वाले वर्षों में स्थिति काफी बदल सकती है।

मीठे पानी में संक्षारण

वायु की तरह ही, विभिन्न प्रकार के लौह और इस्पात पर मीठे पानी में, संक्षारण—दर पर इन के रासायनिक संघटन तथा सूक्ष्म संरचना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। लौह में अल्प मात्रा में तांबा, क्रोमियम तथा निकेल मिलाने से वायु संरक्षण में जो लाभकारी प्रभाव मिलते हैं वे जल संक्षारण में नहीं पाए जाते। परंतु पानी का संघटन या शुद्धता काफी महत्वपूर्ण है। मीठे पानी में इनकी संक्षारण—दर चालकता, अम्लीयता, क्षारीयता, कठोरता, विलयित ठोसों की प्रकृति व मात्रा, जैविक पदार्थों तथा गैसों (विशेषतः आक्सीजन) की मात्रा पर निर्भर करती है। इन्हीं कारणों से जल में लौह और इस्पात के संक्षारण की सूचक (typical) दर निश्चित करना कठिन है, परंतु प्रदूषण—रहित व आक्सीजनयुक्त मीठे पानी में 40 माइक्रान प्रतिवर्ष की दर लगभग

सारणी 8 : जातावरण में लौह व इस्पात की संक्षारण—दर
(1 मिनी. = 1000 माइक्रान)

क्र. सं.	पर्यावरण	स्थल	संक्षारण—दर (माइक्रान प्रतिवर्ष)
1.	ग्रामीण (अति शुष्क एवं स्वच्छ)	खारतूम, सूडान	3
2.	ग्रामीण/शहरी/अति शुष्क	दिल्ली, भारत	8
3.	ग्रामीण (शीतोष्ण)	गोडलमिंग, इंग्लैंड	48
4.	उपनगरीय	बर्लिन, जर्मनी	53
5.	शहरी	टेडिंग्टन, इंग्लैंड	70
6.	समुद्री (ग्रामीण)	सैंडीहुड, अमरीका	84
7.	औद्योगिक (स्थलीय)	पिट्सबर्ग, अमरीका	109
8.	औद्योगिक (समुद्री)	कोर्गला, दक्षिण अफ्रीका	114
9.	भारी औद्योगिक	शफील्ड, इंग्लैंड	135
10.	समुद्री (उष्णकटिबंधी)	लागोस, नाइजीरिया	619

सर्वमान्य है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यह संक्षारण-दर, शीतोष्ण-जलवायु में वातावरणीय संक्षारण-दर से अधिक नहीं है (सारणी 8)।

कृत्रिम रूप से पानी को क्षारीय बनाकर लौह व इस्पात का संक्षारण काफी हद तक रोका जा सकता है। इसी प्रकार, यदि उच्च ताप संयंत्रों में कठोर पानी में उपस्थित लवणों के संरोहण (entrainment) द्वारा लौह की सतह से जंग को हटाया न जाए, तो संक्षारण-दर में कमी आ सकती है। इसके विपरीत, यदि लौह की सतह ठोस कणयुक्त बहते हुए पानी के निरंतर संसर्ग में रहे तो अपरदन (erosion) तथा अपघर्षण (abrasion) के कारण संक्षारण की दर बहुत अधिक बढ़ जाती है। खारे पानी की चालकता अधिक होती है, जिससे संक्षारण-दर बढ़ जाती है। यद्यपि कम आक्सीजन मात्रा वाला प्रदूषित जल कम संक्षारक होता है, परंतु यदि जल में सल्फेट अवकारी बैक्टीरिया उपस्थित हैं, तो जीवाणुओं के कारण यह दर काफी बढ़ जाती है।

समुद्री जल संक्षारण

समुद्री जल में भी लौह व इस्पात की संक्षारण-दर पर धातु के संघटन व सूक्ष्म संरचना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। वास्तव में, यह दर लगभग पूरे विश्व में एक जैसी ही है, क्योंकि सब जगह खुले समुद्र के पानी का संघटन लगभग एक समान ही है। पानी में ढूबे हुए लौह व इस्पात की संक्षारण-दर पर तापमान का भी प्रभाव नगण्य है, क्योंकि उच्च तापमान के कारण संक्षारण-दर की वृद्धि, उच्च तापमान पर कम आक्सीजन विलेयता के कारण इस दर में आई कमी से संतुलित हो जाती है। प्रदूषण आदि स्थानीय तटीय कारणों से संक्षारण-दर पर काफी प्रभाव पड़ता है, परंतु समुद्री जल में संक्षारण की दर मुख्यतः पानी की सतह में धातु की स्थिति पर निर्भर करती है।

यदि लोहा पूरी तरह पानी में ढूबा हुआ हो, तो संक्षारण-दर लगभग 50 माइक्रान प्रतिवर्ष होगी, जो मीठे पानी में संक्षारण-दर से कुछ ही अधिक है। 100-200 माइक्रान प्रतिवर्ष की अधिकतम संक्षारण-दर छपाका क्षेत्र (splash zone) में पाई गई है, जहां पानी में आक्सीजन की मात्रा अधिक होती है तथा लहरों के कारण धातु की सतह पर जंग की परिरक्षक परत नहीं बन पाती है। छपाका क्षेत्र के ऊपर तथा अंतर-ज्वारीय क्षेत्र में संक्षारण-दर कम होकर क्रमशः सामान्य समुद्री वातावरण की दर तथा पूर्णतः ढूबी हुई दर तक पहुंच जाती है।

मृदा संक्षारण

मृदा का संघटन कई तरह का हो सकता है। भूमि में लोहे की संक्षारण-दर इसकी

धारित नमी (retained wetness), आक्सीजन की मात्रा, विलयित लवण, हाइड्रोजेन आयन सांद्रता (pH) तथा जैविक पदार्थों की मात्रा पर निर्भर करती है। इस संदर्भ में यह जान लेना जरुरी है कि उदासीन पर्यावरण में pH का मान 7, क्षारीय पर्यावरण में 7 से अधिक तथा अम्लीय में 7 से कम होता है। मृदा संक्षारण में भी लौह व इस्पात के संघटन और सूक्ष्म संरचना का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। नदी-तल तथा समुद्र-तल जैसे आक्सीजन-रहित पर्यावरणों में कोई विशेष संक्षारण नहीं होता। यह संक्षारण-दर, जल-संतुप्ति स्थिति में भी अधिक से अधिक 20 माइक्रोग्राम प्रतिवर्ष होती है। सामान्यतया, यदि मिट्टी को कुरेदा न जाए तो उसमें संक्षारण की दर वायुमंडलीय संक्षारण की दर से काफी कम होती है। गहराई में स्थापित इस्पात-पाइलों की आयु काफी अधिक होती है।

गैल्वेनी संक्षारण

हम पहले बता चुके हैं कि धातु की सतह पर धनोदी व ऋणोदी अभिक्रियाएं एकसाथ होने के कारण संक्षारण होता है। वास्तव में, इन अभिक्रियाओं के कारण वैद्युत रासायनिक सेल बनता है जिसमें धनोदी स्थलों से ऋणोदी स्थलों तक इलेक्ट्रानों का अंतरण होता है और विद्युत-धारा प्रवाहित होती है। वैद्युत-रासायनिक संक्षारण सेल के धनोद एवं ऋणोद स्थल, जहां यह अभिक्रिया होती है, कई बातों पर निर्भर करते हैं। इनका स्थल निश्चित नहीं होता। वे पास भी हो सकते हैं या दूर भी हो सकते हैं। जिन स्थानों के पास आक्सीजन का पर्यावरण कम होता है वहां धनोद बन जाता है। विभिन्न स्थानों पर आक्सीजन की मात्रा अलग-अलग होती है। इसी प्रकार, धातु आयनों अथवा किसी अन्य प्रकार के पर्यावरण की सांद्रता अलग-अलग होने पर भी संक्षारण होता है। इस प्रकार की भिन्नता, संक्षारित हो रही धातु की स्थिति या दिग्गिन्यास के कारण हो सकती है। उदाहरण के लिए, ऊर्ध्वाधर धातु की सतह पर, गुरुत्व के कारण, नीचे के हिस्से में पर्यावरणीय कारकों की मात्रा में परिवर्तन हो सकता है। इसके अतिरिक्त, धातु की सतह पर अंतर्वेशों, धातुमल, विभिन्न अवस्थाओं (phases), कण-सीमाओं, आंतरिक प्रतिबल का मान और धातु में किसी अन्य प्रकार की विषमांगता के कारण धनोदी व ऋणोदी बिंदु बन सकते हैं।

जब दो या उससे अधिक धातुएं या मिश्रधातुएं एक ही विद्युत-अपघट्य (या विद्युत चालक विलयन) में होती हैं, तो जो धातु अधिक सक्रिय या धनोदी होती है उसका संक्षारण बढ़ जाता है और कम सक्रिय या ऋणोदी धातु का संक्षारण घट जाता है। इस प्रक्रिया को 'गैल्वेनी संक्षारण' कहते हैं। गैल्वेनी संक्षारण के कारण धातुओं को एक गैल्वेनी शृंखला में वर्गीकृत किया जा सकता है, जिसमें एक सिरे पर उत्कृष्ट या कम सक्रिय धातुएं तथा दूसरे सिरे पर अधिक सक्रिय धातुएं हैं।

सारणी 9 : समुद्री जल में धातुओं व मिश्रधातुओं की गैल्वेनी शृंखला

उत्कृष्ट धातु/निष्क्रिय सिरा

प्लेटिनम्

सोना

चांदी

स्टेनलेस इस्पात (305 व 316)

निकेल

कांसा

ताबा

पीतल

रांगा

सीसा

लेड-टिन सोल्डर

ढलवां लोहा

इस्पात

कैडमियम

एल्युमिनियम

जस्ता

मैग्नीशियम्

अपधातु/सक्रिय सिरा

गैल्वेनी संक्षारण का परिचालन बल विभिन्न धातुओं के किसी विशेष विद्युत अपघट्य में (उदाहरणतया, समुद्री जल) मापे गए सापेक्ष विभव में अंतर के अनुसार होता है (सारणी 9)।

सारणी 9 में ऊपर रखी गई धातुएं सदा चमकनेवाली, असंक्षारणीय तथा आकर्षक होती हैं तथा गहने व तमगों आदि के बनाने में और अलंकरण कार्यों के लिए प्रयुक्त होती हैं। मोटे तौर पर, दो धातुएं इस शृंखला में जितनी दूर होंगी, अधिक सक्रिय धातु पर गैल्वेनी संक्षारण का प्रभाव उतना अधिक होगा।

संक्षारण की रोकथाम

संक्षारण से संबंधित उपर्युक्त सिद्धांतों को उचित रूप से समझने के फलस्वरूप

संक्षारण-रोधन एवं संक्षारण-नियंत्रण की कई विधियां विकसित हुई हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :

1. संक्षारण-रोधी मिश्रधातुएँ

इन मिश्रधातुओं में क्रोमियम जैसे तत्व होते हैं। ये तत्व एक आसंजक (adherent), स्वतः शमनीय (self healing) और प्रभावकारी आक्साइड रक्षा-परत बनाते हैं। इन्हीं कारणों से यह रक्षक परत टूटती नहीं है और टूटने पर शीघ्र ही दुबारा बन जाती है।

2. रक्षक लेपन (coating)

इस विधि में धातु की सतह पर एक-जैसा लेपन किया जाता है जो धातु की सतह और संक्षारक पर्यावरण के बीच एक कृत्रिम रोधक का कार्य करता है। कृत्रिम कार्बनिक रोधक (पेंट, लैकर, वैक्स और ग्रीज़ आदि), विद्युत-लेपित क्रोमियम जैसे धात्विक लेप अथवा ऐसी धातुएं जो स्वयं अधिक संक्षारित होकर आधार धातु को बचाती हैं (उदाहरण के लिए, गैल्वेनी इस्पात में जस्ता) एवं पोर्सिलेन, इनैमल व कांच जैसे लेप रासायनिक प्रतिरोधकों का काम करते हैं।

3. कैथोडी परिरक्षण

संक्षारण-नियंत्रण की इस विधि में जिस सरंचना को संक्षारण से बचाना है उसे गैल्वेनी या संक्षारण सेल का कैथोड बना दिया जाता है।

4. संक्षारण अवरोधक (inhibitors)

इस विधि में, धातु में, संक्षारण अवरोधक के रूप में, उचित मात्रा में विशेष प्रकार के रसायन मिलाए जाते हैं जिससे धातु की सतह के पर्यावरण में परिवर्तन हो जाता है और धातु की संक्षारण दर कम हो जाती है।

लौह और इस्पात के परिरक्षण अथवा इन पर जंग लगाने की प्रक्रिया को रोकने की प्रचलित विधियां हाइड्राक्सिल आयन (OH^-) बनाने वाली कैथोडी अभिक्रिया को रोकने पर आधारित हैं। बंद जगहों पर, वातावरणीय प्रदूषण कम करके तथा वातानुकूलन द्वारा सापेक्षिक आर्द्धता को 60 प्रतिशत से कम रखकर लौह व इस्पात पर वायु संक्षारण प्रक्रिया को नियंत्रित रखा जा सकता है। शीतलन तंत्रों, जैसे जलीय पर्यावरण में, संक्षारण नियंत्रण हेतु, पोटैशियम क्रोमेट, सोडियम नाइट्राइट तथा सोडियम बैंजोएट

आदि विलयित अवरोधकों का प्रयोग किया जाता है जो बंद-पुनर्संचरण (closed recirculating) तंत्रों में काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। बायलर भरणजल जैसे औद्योगिक संयंत्रों के लिए अवातन अथवा रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पानी में आक्सीजन की मात्रा को कम करना, संक्षारण नियंत्रण का एक और तरीका है।

जिन स्थितियों में पानी या आक्सीजन को कम करने से कैथोडी अभिक्रिया धीमी नहीं की जा सकती है, वहां कैथोडी परिरक्षण द्वारा लौह व इस्पात में इलेक्ट्रान प्रवेश करा कर एनोडी विलयन अभिक्रिया को रोका जाता है। लोहे की संरचना का जस्ते जैसी किसी सक्रिय धातु से सविद्युतीय संबंध बनाकर यह कार्य संपन्न किया जा सकता है। एक अन्य विधि में, प्लेटिनिकृत टाइटेनियम जैसी संक्षारण-प्रतिरोधी धातु को निष्क्रिय एनोड बनाया जाता है तथा लौह या इस्पात को कैथोड बनाकर दिस्ट्रिंग धारा प्रवाहित की जाती है। इस प्रकार का कैथोडी परिरक्षण केवल एक विद्युत अपघट्य की उपस्थिति में ही हो सकता है और इसीलिए इस विधि का प्रयोग निमज्जित या भूमिगत संरचनाओं में होता है।

स्तंभ की वर्तमान स्थिति

यद्यपि इस बृहत् लौह-स्तंभ के खुले, मुख्य बेलनाकार भाग की आश्चर्यजनक संक्षारण-प्रतिरोध क्षमता ने सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है, परंतु यहां यह बताना आवश्यक है कि स्तंभ के स्कंदाकार आधार (प्लेट 8) तथा खांचेदार शीर्ष पर सामान्य पिटवां लोहे (wrought iron) की भाँति ही संक्षारण के प्रभाव देखे जा सकते हैं। स्तंभ के बारे में लिखे गए कई लेखों में इस बात को स्पष्ट नहीं किया गया है।

हम पहले अध्याय में यह बता चुके हैं कि 1961 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग (ASI) के शताब्दी समारोह के अवसर पर स्तंभ को रासायनिक उपचार, परिरक्षण तथा पुनर्स्थापना के लिए खोदकर निकाला गया था। उस समय विभाग के मुख्य रसायनज्ञ डा. बी. बी. लाल इस कार्य के प्रभारी अधिकारी थे। उन्होंने अपनी रिपार्ट में लिखा कि स्तंभ के भूतिगत तथा शीर्ष भागों के परीक्षण से स्पष्ट हुआ है कि ये भाग पिटवां लोहे की किसी अन्य वस्तु की भाँति ही संक्षारित हो रहे हैं।

सन् 1961 से पहले ऐसा समझा गया था कि स्तंभ के भूमिगत भाग का संक्षारण मासूली है। परंतु विस्तृत अध्ययन करने पता चला कि इस भाग में काफी अधिक जंग लगा हुआ है और कुछ स्थानों पर तो 1.5 मिमी, तक की जंग की परतें निकाली गईं। इसके अतिरिक्त, स्कंदाकार आधार में संक्षारण की काफी अधिक गहराई व लोहे के खनिजीकरण के कारण कई छिद्र तथा खोखले भाग भी पाए गए

हैं। जंग की परतों (scales) तथा उससे लगी हुई मिट्टी का रासायनिक संघटन खुले बेलनाकार भाग के संघटन जैसा ही पाया गया। परंतु मिट्टी में आशानुरूप ही धूलनशील सल्फेट व क्लोराइड काफी अधिक मात्रा में पाए गए।

सन् 1961 में ही पहली बार यह पता चला कि स्तंभ के स्कंदाकार आधार पर, 80 सेमी. की ऊँचाई तक, तीन मिनी. मोटी 9.9.3.7 प्रतिशत शुद्ध सीसे की चादर लिपटी हुई थी। सीसे की यह चादर संक्षारण के प्रभाव से लगभग पूरी तरह मुक्त थी। एक सतही सफेद परत के अतिरिक्त, उसमें संक्षारण का कोई अन्य चिह्न नहीं पाया गया। डा. लाल ने 1961-62 के इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि भूमिगत भाग की अधिकतर क्षति स्तंभ में सीसे और लोहे की पास-पास उपस्थिति के कारण गैल्वेनी संक्षारण से हुई है। इस क्रिया में सीसे ने ऋणोद व लोहे ने उत्सर्गी धनोद का कार्य किया। स्तंभ के लौह आधार का इस प्रकार संक्षारित होना तथा सीसे का संक्षारण से मुक्त रहना वैज्ञानिक की आशा के अनुरूप ही था, क्योंकि गैल्वेनी शृंखला में (सारणी 9) सीसा, लोहे से ऊपर आता है। यहां यह कहना उचित होगा कि यदि सीसे की जगह जस्ते की चादर प्रयोग की गई होती, तो लोहे की बजाए जस्ता उत्सर्गी धनोद का कार्य करता और स्तंभ का लौह आधार गैल्वेनी संक्षारण से बचा रहता। लोहे में केवल मिट्टी की नमी और विलयित आक्सीजन के कारण होने वाला संक्षारण ही हो पाता।

सन् 1961 में पहली बार यह पता चला कि स्तंभ को किस प्रकार स्थापित किया गया था। स्तंभ की नींव पर पत्थर की एक भारी शिला है जिस पर लोहे की बनी एक जाली स्थापित है। स्तंभ का आधार चपटा व वृत्ताकार है, जिसकी परिधि पर आठ मोटे उभरे भाग (projections) हैं। नींव के चारों ओर 80 सेमी. की ऊँचाई तक सीसे की चादर लिपटी है जो स्तंभ के आधार तक आती है। नींव के दिखने वाले भाग की सतह रुक्ष तथा गर्तयुक्त (pitted) है। संभव है कि स्तंभ के प्रथम स्थापना-स्थल पर यह भाग भूमि में दबा रहा हो।

सन् 1961 में ही स्तंभ के शीर्ष भाग का, जिसमें संभवतः ध्वजदंड लगाने के लिए आयताकार खांचा भी है, संक्षारण अध्ययन किया गया। खांचे के आधार के पास जंग की मोटी परतदार पपड़ियां तथा मिट्टी पाई गई। इससे इस भाग में काफी संक्षारण होने का पता लगता है। स्पष्ट है कि हवा द्वारा लाए गए धूल व मिट्टी के कण तथा वर्षा के पानी का जमा होना इस संक्षारण का मुख्य कारण है। इस खांचे में वर्षा का पानी लगभग एक फुट ऊँचाई तक जमा हो सकता है, अतः इस भाग में संक्षारण के लिए उपयुक्त परिस्थितियां मौजूद हैं।

स्तंभ को आने वाली पीढ़ियों के वास्ते सुरक्षित रखने के लिए 1961 में कुछ

आवश्यक उपाए किए गए। सर्वप्रथम, जंग की पपड़ियों, मिट्टी तथा पानी में घुलनशील लवणों को हटाया गया। छिद्रों तथा दरारों आदि को भरकर जंग-प्रतिरोधी उपचार किया गया। जंग-प्रतिरोधी उपचार से पूर्व, संपूर्ण स्तंभ से तेल, मिट्टी, संक्षारण-उत्पादनों, जंग के धब्बों आदि को रासायनिक उपचार द्वारा हटाया गया। डा. लाल ने सुझाव दिया कि पुनर्स्थापना से पूर्व, सीसे की चादर के स्थान पर जस्ते की चादर लगाई जाए। परंतु यह सुझाव पुरातत्व इंजीनियरों व संरचना परिरक्षकों ने नहीं माना। उनका मत था कि आधार को सीमेंट मॉर्टर व क्षारीय मिट्टी से बचाने के लिए सीसे की चादर पर्याप्त है। इस बात की केवल आशा ही की जा सकती है कि यदि स्तंभ को फिर कभी पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता हुई तो सीसे के स्थान पर जस्ते की चादर लगाई जाएगी।

संक्षारण प्रतिरोध के कारण

1500 वर्षों से अधिक समय तक धूप, वर्षा, हवा तथा धूल में रहने के बावजूद, स्तंभ के बृहत् मध्य भाग का संक्षारण—मुक्त रहना, स्वाभाविक रूप से, धातुविदों, पदार्थ-विज्ञानियों तथा संक्षारण-विशेषज्ञों के लिए आश्चर्य का विषय रहा है। इस अन्द्रुत तथ्य पर बहुत से शोधपत्र प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से पिछले 30 वर्षों के कुछ शोधपत्रों का यहां उल्लेख करना महत्व रखता है। घोष (1963), बार्जेट व स्टैनर्स (1963), लाहिड़ी आदि (1989), रैगलेन (1969 व 1970), राव (1989 व 1991), लाल (1989), बिंदल आदि (1989), दुबे (1990) तथा बिस्वास (1991) आदि के शोधपत्र इस स्तंभ से संबंधित संक्षारण प्रक्रिया के वैज्ञानिक विश्लेषण का आधार हैं। इससे पहले किए गए अध्ययन यद्यपि कुछ अर्थों में उपयोगी व रोचक हैं, परंतु पिछले 30 वर्षों में उससे पहले के दशकों की अपेक्षा बेहतर उपकरणों, विशेषज्ञता तथा तकनीकी आधार की उपलब्धता के कारण अब उतने महत्वपूर्ण नहीं रहे हैं। पुनः यह कहना अनुचित न होगा कि स्तंभ से संबंधित धातुकी अनुसंधान के इस चुनौतीपूर्ण क्षेत्र में भारतीय वैज्ञानिकों ने पाश्चात्य वैज्ञानिकों के समान ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

यहां लौह-स्तंभ के रासायनिक संघटन की विषमांगता (inhomogeneity) को याद रखना आवश्यक है। स्तंभ को लौह स्पंज के बहुत सारे टुकड़ों को फोर्ज-वेल्डन प्रक्रिया द्वारा जोड़कर बनाया गया था (अध्याय 4)। इसी कारण विभिन्न स्थानों पर, इसका रासायनिक संघटन व फलस्वरूप इसकी सूक्ष्म संरचना तथा इसके यांत्रिक गुणधर्म भिन्न-भिन्न हैं। धातु की ग्रेन संरचना व प्रावस्था संरचना के अध्ययन के लिए, सामान्यतया, नमूनों का अम्लीय घोलों द्वारा निकारण (etching) किया

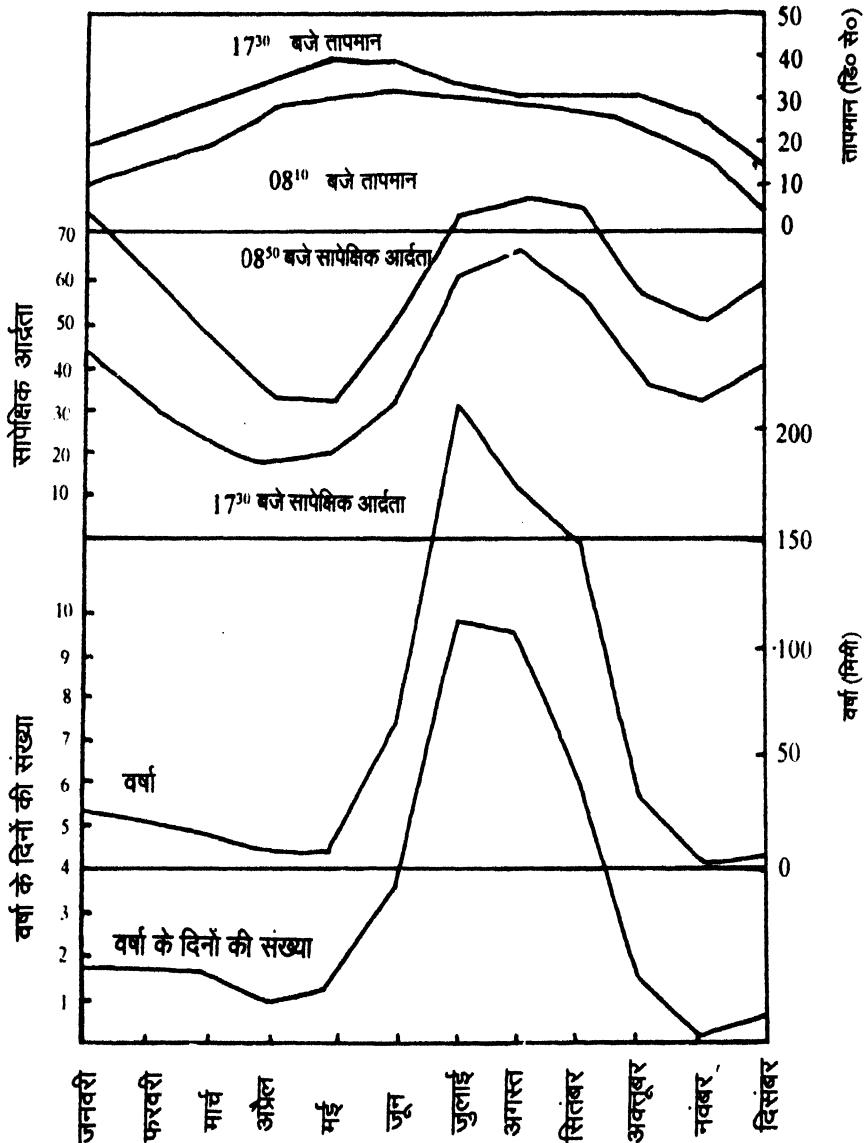
जाता है। निक्षारण से पहले, स्तंभ के लोहे में धातुमल के कणों का अनियमित वितरण स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। निक्षारण के पश्चात्, संरचना में फेराइट (लगभग शुद्ध लौह) के बहुतलीय ग्रेन दिखाई देते हैं, जिसमें कुछ स्लिप बैंड भी हैं। थोड़ी परंतु विविध मात्रा में, पर्लाइट [फेराइट तथा आयरन कार्बाइड (Fe_3C), जिसे धातु-विज्ञान की भाषा में सीमेंटाइट कहते हैं, का सम्मिश्रण] भी दिखाई देता है। इस प्रकार, इसमें कार्बन की मात्रा 0.1% से कम से लेकर 0.3% तक पाई गई है। इस लोहे की सूक्ष्म कठोरता ब्लिनेल पैमाने पर शुद्ध फेराइट के लिए 80 से लेकर शुद्ध पर्लाइट के लिए 180 तक पाई गई है।

रासायनिक संघटन का प्रभाव

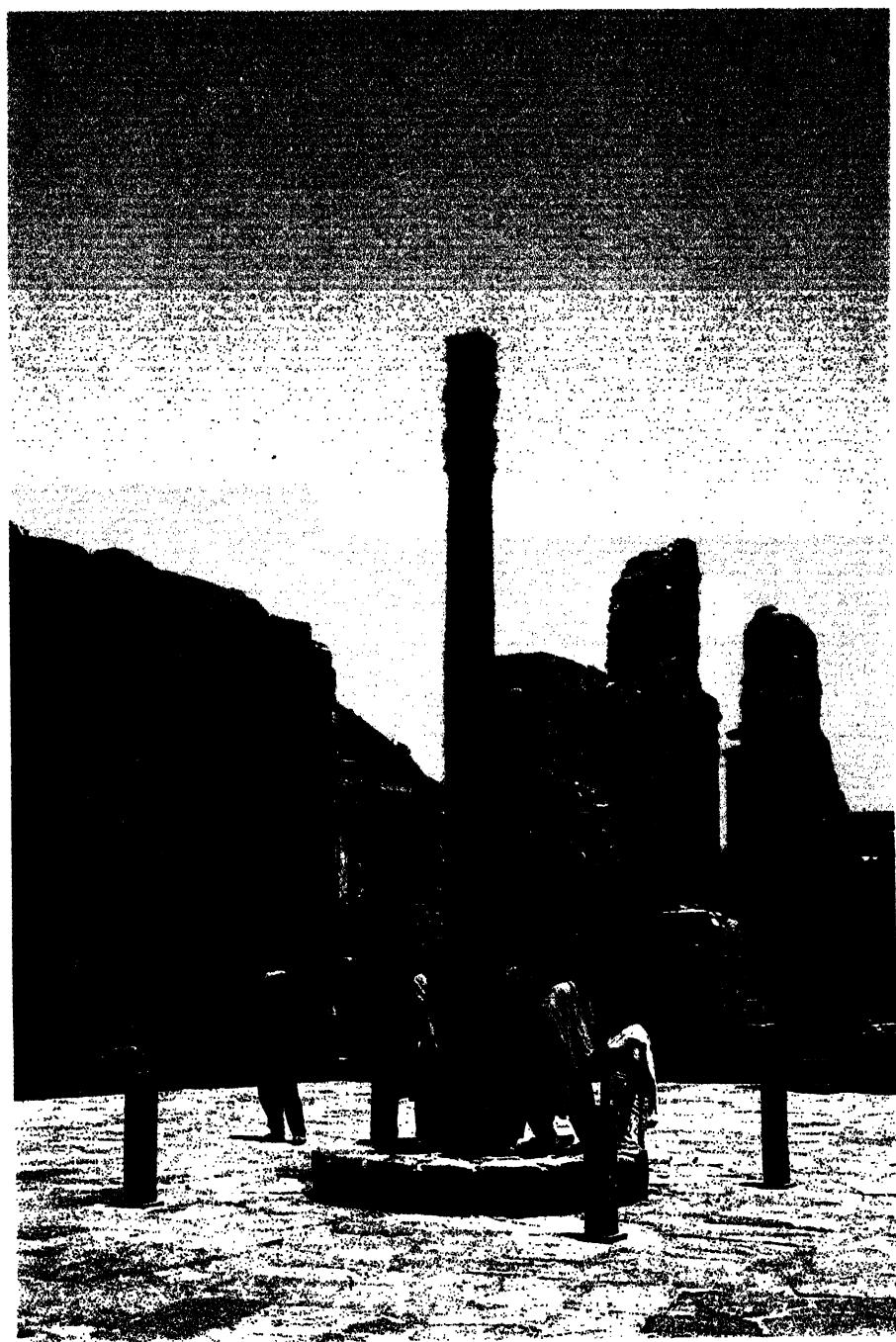
सारणी 10 में स्तंभ के पदार्थों का औसत संघटन (% भार) दिया गया है।

कार्बन की मात्रा में भिन्नता के बारे में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें कार्बन की मात्रा इतनी कम नहीं है जैसा कि पहले समझा जाता था। सतह की परतों में कार्बन तथा पर्लाइट की मात्रा कम है जो स्तंभ के अंदर उसके अक्ष की ओर बढ़ती जाती है। संभवतः तप्त लौह पेस्ट की घन-फोर्जन प्रक्रिया के दौरान अकार्बनीकरण क्रिया के कारण ऐसा हुआ होगा।

स्तंभ के लोहे में फास्फोरस की मात्रा काफी अधिक है और कार्बन की तुलना में इसकी भिन्नता भी कम है। फास्फोरस, अंशतः फेराइट में ठोस विलयन के रूप में घुला हुआ है तथा शेष फेरस फास्फेट के रूप में धातुमल में शामिल है। स्तंभ की परतों तथा आक्सीकृत भागों में (जिनमें कार्बन की मात्रा कम है), अंदरूनी भागों की तुलना में, अधिक फास्फोरस है। 0.28 प्रतिशत फास्फोरस वाले लौह के नमूने के विश्लेषण से पता लगा है कि उसमें से 0.18% तात्काल फास्फोरस के रूप में फेराइट में विलयित है तथा शेष फास्फोरस फास्फेट धातुमल के रूप में उपस्थित है। यह माना जा रहा है कि इस स्तंभ के लौह में फास्फोरस की अधिक मात्रा का संक्षारण-प्रतिरोध में अपना एक विशेष योगदान है। विशेषज्ञों की यह राय है कि फास्फोरस, पानी तथा आर्द्र वातावरण में आक्सीजन के कारण होने वाले संक्षारण को रोकता है। फेराइट का फास्फोरस, आक्सीकृत होकर फास्फेट बनाता है, जो स्तंभ की सतह पर छिद्र-रहित परिरक्षक आक्साइड परत बनाने में सहायक है। यह परत संक्षारण प्रक्रिया को रोकने के लिए निरोधक का काम करती है।



चित्र 15 : दिल्ली की जलवायु से संबंधित-आरेख



प्लेट 9 : पर्यटकों से घिरा लौह-स्तम्भ — दैनंदिन दृश्य

सारणी 10 : स्तंभ का औसत रासायनिक संघटन (%) भार)

कार्बन	0.15
फास्फोरस	0.25
सल्फर	0.005
सिलिकान	0.05
मैंगनीज	0.05
निकेल	0.05
तांबा	0.03
नाइट्रोजन	0.02
लौह	शेष

इस स्तंभ के लोहे में गंधक की मात्रा काफी कम पाई गई है, क्योंकि शायद लौह खनिज के अवकरण में काठकोयले का प्रयोग किया गया होगा। साथ ही, मैंगनीज की मात्रा भी बहुत ही कम है। अतः लौह-समृद्ध मैंगनीज सल्फाइड (MnS) की, जो गर्त संक्षारण की प्रक्रिया में स्थानीय कैथोड का कार्य करता है, मात्रा भी कम है। स्तंभ-लौह के सल्फर-मुद्रणचित्रों में मैंगनीज सल्फाइड की उपस्थिति बहुत ही कम देखी गई है। इस प्रकार, मैंगनीज और सल्फर की कम मात्रा भी इसके संक्षारण-प्रतिरोध का एक कारण है।

आधुनिक धातुकी के, विशेषतः इस्पात प्रौद्योगिकी के, दृष्टिकोण से स्तंभ का लोहा व्यावसायिक संरचना के इस्पात En3 या अर्धहत (semi killed) इस्पात AISI 1015 के लगभग समान ही है। परंतु इनमें कुछ मुख्य अंतर इस प्रकार हैं :

1. आधुनिक इस्पात की तुलना में इसमें फास्फोरस की मात्रा लगभग पांच गुनी है।
2. आधुनिक इस्पात के 0.5% मैंगनीज की तुलना में स्तंभ में मैंगनीज की मात्रा लगभग नगण्य है।
3. आधुनिक इस्पात की तुलना में इसमें सल्फर की मात्रा दस गुनी या उससे भी कम है।
4. आधुनिक इस्पात की तुलना में इसकी संरचना विषम है तथा इसमें धातुमल की मात्रा भी अधिक है।

रेंगलन ने 1970 में यह निष्कर्ष निकाला था कि दिल्ली-स्तंभ के पिटवां लोहे की

संरचना, विशिष्ट न होते हुए भी, हवा में अच्छे संक्षारण-प्रतिरोध की दृष्टि से अति उपयुक्त है।

संरक्षक परतों का प्रभाव

कई शोधकर्ताओं ने इस स्तंभ की संक्षारण-प्रतिरोध क्षमता का श्रेय इसके निर्माण के दौरान अथवा दिल्ली के पर्यावरण के कारण इसकी सतह पर बनी संरक्षक परतों को दिया है। इस संबंध में कई विचार प्रस्तुत किए गए हैं जिनका अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक है।

स्तंभ के दर्शक यह देख सकते हैं कि इसकी परिधि पर पत्थर के चबूतरे से 1 से 1.5 मीटर की ऊँचाई पर एक पट्टी (band) है, जो अत्यंत चमकदार व चिकनी है, मानो उसे विशेष तौर पर पालिश किया गया हो। लोगों का विश्वास है कि स्तंभ से पीठ लगाकर अपने दोनों हाथ स्तंभ के चारों ओर बांधने से उनका "भाग्य" चमकता है। यह पट्टी पर्यटकों के ऐसा करने के कारण ही बनी है। श्रीलंका की 'आदम चोटी' के तीर्थस्थल की 2000 वर्ष पुरानी लोहे की जंजीर की तरह, स्तंभ के इस भाग में लगातार हाथों की चिकनाई आदि लगने तथा इस तरह पालिश होते रहने के कारण यह भाग संक्षारण से पूर्णतः मुक्त है।

अनेक अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि स्तंभ पर 60-600 माइक्रान (1 मिमी. = 1000 माइक्रान) की मोटाई की संरक्षक परत भौजूद है। चुंबकीय मापन से इस परत की मोटाई चमकदार पालिश वाले भाग में 50 माइक्रान तथा अन्य भागों में 500-600 माइक्रान तक मापी गई है। यदि इस आक्साइड परत को हटा दिया जाए तो नीचे के लोहे में जंग लगने लगता है और कुछ वर्षों के पश्चात् स्तंभ की पुरानी फिल्म की तरह ही सतह पर एक नई आक्साइड फिल्म बन जाती है। इस अध्ययन से इस सिद्धांत को बल मिलता है कि स्तंभ की संक्षारण-प्रतिरोध क्षमता का एक मुख्य कारण संक्षारण-प्रतिरोधी उत्पादों की इस संरक्षक आक्साइड परत का निर्माण है।

प्रकाशीय, एक्स-किरण तथा रासायनिक विश्लेषणों से ज्ञात हुआ है कि स्तंभ की संरक्षक परत मुख्यतः Fe_3O_4 है, जो साधारण जंग $\text{Fe}_2\text{O}_3 \cdot n\text{H}_2\text{O}$ की तरह अचुंबकीय न होकर चुंबकीय है। एक विश्लेषण के अनुसार, इस परत का संघटन इस प्रकार है :

आक्साइड	(प्रतिशत)
Fe_3O_4	67.0
FeO	13.1

H ₂ O	14.8
FePO ₄	01.7
SiO ₂	03.2
MgO	00.2
CaO	00.1

जंग की इस परत में अचुंबकीय आक्साइड की अपेक्षा, चुंबकीय आक्साइड की इतनी अधिक मात्रा इस स्तंभ की विशेषता है। इसके विपरीत, साधारण मृदु इस्पात के जंग में अचुंबकीय आक्साइड की मात्रा, चुंबकीय आक्साइड से कहीं अधिक होती है। स्पष्ट है कि दिल्ली की जलवायु में, स्तंभ के जंग का Fe₃O₄ से Fe₂O₃ में आक्सीकरण नहीं होता है। इसी संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि स्तंभ के भूमिगत भाग की मोटी संक्षारण पपड़ियों का संघटन Fe₂O₃.nH₂O के निकट पाया गया है।

सतह की आक्साइड फिल्म में, फास्फोरस की मात्रा लोहे में 0.35% फास्फोरस के समतुल्य पाई गई है, जो स्तंभ के लोहे में स्थित फास्फोरस की मात्रा से बहुत अलग नहीं है। परंतु आक्साइड फिल्म में, स्तंभ के लोहे के मुकाबले, फास्फोरस की मात्रा थोड़ी अधिक देखी गई है। विशेषज्ञों का मानना है कि जो फास्फोरस फेराइट में ठोस विलयन के रूप में मौजूद है वह फास्फेट धातुमल के रूप में मौजूद फास्फोरस की अपेक्षा संरक्षक परत बनाने में अधिक सहायता करता है।

सतह की आक्साइड फिल्म में SiO₂ की मात्रा स्तंभ के लोहे में स्थित सिलिकान मात्रा के अनुसार अपेक्षित SiO₂ की मात्रा से अधिक पाई गई है। एक्स-किरण अध्ययन से, SiO₂ के एक अन्य रूप, क्वार्ट्ज की उपस्थिति भी सिद्ध हुई है। स्पष्ट है कि SiO₂ की यह मात्रा, अधिकांशतः, आंधियों के कारण स्तंभ पर पड़ने वाली मिट्टी से आई है। ऐसी आंधियों का चलना दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में, विशेषतः गर्मियों में, एक सामान्य बात है। सतह पर थोड़ी मात्रा में मैग्नीशियम आक्साइड व कैल्सियम आक्साइड की उपस्थिति भी शायद इसी कारण से है।

यह सर्वविदित वैज्ञानिक तथ्य है कि संरक्षक परत की मोटाई परवलयिक नियम (parabolic law) के अनुसार बढ़ती है। यदि इसकी प्रारंभिक दर 5 माइक्रान प्रति वर्ष मानी जाए, तो 1600 वर्षों में यह मोटाई लगभग 200 माइक्रान होनी चाहिए, जो मापी गई औसत मोटाई के लगभग बराबर ही है।

स्तंभ के खुले भाग पर संरक्षण आक्साइड परत की उपस्थिति का एक और वृष्टिकोण विशेषज्ञों ने प्रस्तुत किया है। ऐसा लगता है कि इस विशाल स्तंभ का

निर्माण पेस्ट के रूप में प्राप्त तप्त धातु के पिंडों की घन-फोर्जन विधि द्वारा किया गया था। आकार को गोलाई देने तथा सतह को चिकना बनाने के लिए सुव्यवस्थित ढंग से एक लंबे समय तक भारी हथौड़ों का प्रयोग हुआ होगा। इन असामान्य परिस्थितियों में बनी आक्साइड की परत तथा धातुमल हथौड़ों की मार से सतह पर अच्छी तरह चिपक गया होगा। स्तंभ की सतह पर यह आसंजित (adherent) परिरक्षक परत बनी होगी जो घन-फोर्जन के बाद की शीतलन प्रक्रिया में और भी विकसित हुई होगी।

स्तंभ के बारे में उपलब्ध कुछ अन्य साहित्य में स्तंभ को वातावरणीय संक्षारण से बचाने के लिए कुछ स्वदेशी लेपें व तैलीय लेपन के अनुष्ठानों आदि का संदर्भ भी मिलता है। ये बातें रोचक तो हो सकती हैं, परंतु इनका आधुनिक वैज्ञानिक आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

पर्यावरणीय प्रभाव

कुछ विशेषज्ञों के अनुसार, दिल्ली लौह-स्तंभ के इतने लंबे अरसे तक जंग-रहित रहने में क्षेत्र की अपेक्षाकृत शुष्क जलवायु तथा अप्रदूषित वातावरण (विशेषतः बीसवीं सदी के प्रारंभ तक) की निर्णायक भूमिका रही है। लौह एवं इस्पात की संक्षारण-दर को कम रखने में दिल्ली की जलवायु की कुछ विशेषताएं हैं (चित्र 15)। विश्व के कई अन्य गर्म व शुष्क क्षेत्रों की तरह, दिल्ली की हवा की कम सापेक्षिक आर्द्रता (relative humidity) इसका एक प्रमुख कारण है। यहां केवल जुलाई, अगस्त व सितम्बर की वर्षा के दौरान अथवा कभी-कभी जनवरी में सुबह के समय सापेक्षिक आर्द्रता 70% से अधिक होती है। 70% से अधिक आर्द्रता पर ही संक्षारण-दर बढ़ती है। मध्याह्न में आर्द्रता कभी भी 70% से अधिक नहीं होती। वास्तव में, मानसून को छोड़कर इसका मान लगभग 20-40 प्रतिशत ही होता है।

दिल्ली रेगिस्तान नहीं है। यहां, यूरोप के कई देशों के बराबर, लगभग 700 मिमी वर्षा होती है, हालांकि भारत जैसे देश के लिए यह वर्षा कुछ कम ही कही जा सकती है। कम वर्षा तथा सामान्यतः उच्च तापमान (चित्र 15) जलवायु को शुष्क बनाते हैं, क्योंकि नमी जल्दी उड़ जाती है। छह टन भार व उच्च ऊष्मा धारिता वाले खुले बृहदाकार इस लौह-स्तंभ के लिए तो यह बात और भी सही है। यह स्तंभ सूर्य से काफी अधिक गर्मी का शोषण करता है जिसके कारण रात में इस पर ओस नहीं बनती तथा वर्षा के बाद भी स्तंभ शीघ्र सूख जाता है। जब वर्षा बहुत तेज होती है, तो स्तंभ की धुलाई व सफाई भी स्वयंमेव हो जाती है।

संक्षारण प्रक्रिया पर जलवायु के प्रभाव की चर्चा करते समय पर्यावरणीय प्रदूषण पर विचार करना भी आवश्यक है। छोटे पैमाने के औद्योगिकरण तथा जीवाण्डीय ईंधन

के कम प्रयोग के कारण भारत के अधिकांश भागों में सल्फर डाइआक्साइड (SO_2) जैसी संक्षारक गैसों की सांद्रता कम है। भारत एक गर्म देश है तथा यहां जनसंख्या का घनत्व अधिक है। पशुओं तथा मनुष्यों द्वारा जनित अपशिष्ट पदार्थों का संचयन अमोनिया पैदा करता है। इसलिए यहां का वातारण अम्लीय न हो कर, अधिकाशतः क्षारीय होता है। क्षारीय पर्यावरण में लोहे व इस्पात का संक्षारण अपेक्षाकृत कम होता है। सन् 1947 के बाद स्तंभ भारत में तेज औद्योगिकरण के कारण स्थिति बदली है। परंतु दिल्ली-स्तंभ निर्माण के बाद 1500 वर्षों तक दिल्ली के क्षेत्र में उपर्युक्त वर्णित स्थिति ही विद्यमान थी।

संक्षारण-विज्ञान के अंग्रेज विशेषज्ञ यू. आर. इवांस का 1960 का विवेचन इस चर्चा के लिए प्रासंगिक है। उनके अनुसार प्राचीन या मध्ययुग की आज तक सुरक्षित सभी लौह संरचनाओं के संबंध में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :

- (1) प्राचीन धात्विक संरचनाओं के आसपास का ग्रामीण पर्यावरण आज की अपेक्षा उस समय कहीं कम संक्षारक था। पशुशालाओं, अस्तबलों तथा गोबर आदि से उत्पन्न अमोनिया के कारण यह वातावरण निश्चेष्टक (passivating) अर्थात् संक्षारण को रोकने वाला रहा होगा। उद्भासन (exposure) की प्रारंभिक परिस्थितियां बहुधा वातावरण में धातु की आयु का निर्धारण करती हैं तथा संक्षारण-प्रतिरोधक परिस्थितियों में संक्षारण उत्पादों की एक परत बन जाती है जो वातावरण के अधिक प्रदूषित होने पर भी धातु की रक्षा करती है।
- (2) यहां यह बताना भी आवश्यक है कि केवल वही धातुएं बच पाती हैं जिनका रासायनिक संघटन व पर्यावरण संक्षारण-प्रतिरोधी होता है। अन्य कम संक्षारण-प्रतिरोधी धातुएं समय के साथ नष्ट हो जाती हैं तथा परीक्षण के लिए उपलब्ध नहीं होती हैं।

विषमांगता तथा धातुमल अंतर्वेशों का प्रभाव

स्तंभ-पदार्थ के रासायनिक संघटन व उसके फलस्वरूप इसकी सूक्ष्म संरचना तथा धातुमल अंतर्वेशों व आक्साइड कणों जैसी अधात्विक प्रावस्थाओं के विवरण में समांगता के अभाव का वर्णन कई शोधकर्ताओं ने किया है। इस विषमांगता का कारण यह है कि इस स्तंभ के निर्माण के लिए तप्त लौह पेस्ट के पिंडों को घन-फोर्जन प्रक्रिया द्वारा जोड़ा गया है। निश्चित है कि इसमें काफी समय लगा होगा। परंतु इस विषमांगता के कारण वातावरणीय संक्षारण पर पड़े लाभकारी

प्रभावों के बारे में अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

गैल्वेनी संक्षारण की चर्चा इसी अध्याय में पहले की जा चुकी है। जब कुछ धात्विक अशुद्धियाँ ग्रेन सीमाओं पर जमा हो जाती हैं और संक्षारक पर्यावरण में ऋणोदी स्थलों का कार्य करती हैं, तब धातु में अंतर्कणीय संक्षारण (intergranular corrosion) होता है। यह गैल्वेनी संक्षारण का ही एक उदाहरण है। चूंकि यह संक्षारण ग्रेन सीमाओं के नेटवर्क पर बढ़ता चला जाता है, अतः इसे अंतर्कणीय संक्षारण का नाम दिया गया है। इस स्तंभ में ग्रेन सीमाओं पर धातुमल अंतर्वेश तथा आक्साइड कण जमा हैं जो इस अंतर्कणीय संक्षारण के लिए रोधक का कार्य करते हैं।

दिल्ली-स्तंभ के घन-फोर्जन में अनेक धातु पिंडों का उपयोग हुआ होगा जिन्हें अलग-अलग तापमान पर (अर्थात्, अवकारी प्रक्रिया) बनाया गया होगा। अतः इसके रासायनिक संघटन, सूक्ष्म संरचना व कणों की कर्म कठोरता (work hardening) में असमानता और स्लिप बैंड जैसी त्रुटियों तथा धातुमल व आक्साइड के अंतर्वेश आदि का समावेश होना स्वाभाविक है। ये सभी असमानताएं इस स्तंभ में आश्चर्यजनक संक्षारण-प्रतिरोध के लिए किसी न किसी रूप में उत्तरदायी हैं। सामान्यतः कोई भी धात्विक प्रक्रिया समांगी पदार्थ में शीघ्रता से संपन्न हो सकती है, परंतु अधात्विक बाधाओं या त्रुटियों जैसी विषमांगता के कारण रुक जाती हैं या प्रक्रिया की गति धीमी हो जाती है। संक्षारण जैसी सतत प्रक्रिया भी इस प्रकार की सूक्ष्म अथवा अतिसूक्ष्म बाधाओं के कारण रुक सकती है।

कानपुर के भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IIT) में किए गए बिल्कुल नए अध्ययनों के आधार पर बालसुब्रह्मण्यम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि धातुमल के कण स्तंभ को संक्षारण-प्रतिरोध प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। जर्मन वैज्ञानिक डैग्नर व ट्रौड द्वारा 1938 में प्रस्तुत मिश्रित विभव परिकल्पना का उपयोग करते हुए, बालसुब्रह्मण्यम ने सुझाव दिया है कि कण-सीमाओं पर धातुमल कणों की उपस्थिति के कारण ऋणोदी अवकारक अभिक्रियाएं तेज होती हैं तथा इसके कारण कांचीय या अक्रिस्टलीय प्रावस्था में फास्फेट की निश्चेष्ट संरक्षक फिल्म बनती है, जो स्तंभ को अच्छा संक्षारण-प्रतिरोध प्रदान करती है। 700 वर्ष पुराने धातुमल अंतर्वेशों वाले तथा धातुमल-रहित भारतीय लौह पर किए गए विद्युत-रासायनिक विभव गतिक (potentiodynamic) अध्ययन द्वारा इस धारणा को प्रायोगिक आधार मिला है।

उपसंहार

पि छले अध्यायों में दिल्ली स्थित विख्यात लौह-स्तंभ के कई आश्चर्यजनक एवं रहस्यमय पहलुओं के बारे में महत्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित किए गए हैं। यहां अब उनका सारांश दिया जा रहा है, जिससे सिद्ध होता है कि आज यह स्तंभ कोई पहली या रहस्य नहीं रह गया है। निस्संदेह, तकनीकी दृष्टि से यह अपने समय का आश्चर्य है और सदैव रहेगा।

दिल्ली के लौह-स्तंभ (प्लेट 9) से संबंधित उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि यह स्तंभ लगभग 150 वर्षों से अपने बृहत् आकार तथा परिरक्षण की उत्तम स्थिति के कारण पुरातत्वविदों की प्रशंसा और वैज्ञानिकों तथा तकनीकीविदों, विशेषतः धातुविज्ञानियों की उत्सुकता का केंद्र रहा है। इसीलिए यह स्तंभ न केवल भारतीय उपमहाद्वीप के देशों से, बल्कि दुनियाभर से आनेवाले पर्यटकों को आकर्षित करता रहा है।

जेम्स फर्गुसन ने 1910 में अपनी प्रामाणिक पुस्तक ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर में इस लौह-स्तंभ के संबंध में यह मत व्यक्त किया था :

यह बात लगभग निश्चित है कि स्तंभ की स्थापना सन् 400 के आसपास हुई होगी। अतः हमें मानना ही पड़ता है कि उस काल की हिंदू सभ्यता इतने बड़े स्तंभ का निर्माण करने में सक्षम थी। इतने बड़े आकार की संरचना यूरोप में काफी बाद तक संभव नहीं थी और आज भी आसान नहीं है। उतना ही बड़ा आश्चर्य यह है कि 14 शताब्दियों तक खुली हवा और वर्षा में रहने के बावजूद इसमें जंग नहीं लगा है और इसका शीर्ष (capital) तथा इस पर उत्कीर्ण लेख आज भी उतने ही स्पष्ट हैं जितने स्थापना के समय थे।

लगभग 30 वर्ष पश्चात् पंडित जवाहरलाल नेहरू ने, जो बाद में स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने तथा जो विश्व इतिहास के बारे में अपने समीक्षात्मक व पूर्वग्रह-रहित दृष्टिकोण के लिए विख्यात थे, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया में लिखा था :

निस्संदेह, प्राचीन भारत ने लौह प्रायोगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति कर

ली थी। दिल्ली के समीप स्थित लौह-स्तंभ आधुनिक वैज्ञानिकों को आज भी आश्चर्यचकित कर रहा है। वे इसके निर्माण की उस विशेष पद्धति को पूर्णतया समझ नहीं पा रहे हैं जिसके कारण यह स्तंभ आकसीकरण व पर्यावरण के अन्य प्रभावों से बचा हुआ है।

आठ खंडों में उपलब्ध एनसाइक्लोपीडिया आफ मैटीरियल्स साइंस एंड इंजीनियरिंग (परगैमन प्रेस, 1986) के “हिस्ट्री आफ मेटलर्जी” अनुभाग में इस लौह-स्तंभ के बारे में लिखा है :

भारत और चीन में लौह-युग का आविर्भाव लगभग एक ही साथ हुआ था। यद्यपि कुल मिलाकर भारत की प्रगति चीन जैसी नहीं थी, परंतु इस संबंध में दिल्ली का लौह-स्तंभ (जमीन के ऊपर 6.7 मीटर, नीचे 0.5 मीटर, आधार-व्यास 420 मिमी., शीर्ष-व्यास 320 मिमी. एवं भार 6 टन) तथा धार का स्तंभ (जो अब टूटा हुआ है, परंतु प्रारंभ में शायद दिल्ली-स्तंभ से दुगुनी ऊँचाई का, कुछ पतला एवं लगभग सात टन भार का था) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों स्तंभों का निर्माण ब्लूम भट्टी से प्राप्त बहुत सारे खंडों को वेल्डन द्वारा जोड़कर किया गया है। उस युग में उपलब्ध प्रौद्योगिकी की दृष्टि से ये स्तंभ इंजीनियरी के चमत्कार हैं।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि धातु वैज्ञानिक इस अद्वितीय स्तंभ से अत्यंत प्रभावित हुए। सन् 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ और ‘इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मेटल्स’ की स्थापना हुई, तो इसी लौह-स्तंभ को उसके प्रतीकात्मक विनाश (emblem) के रूप में चुना गया।

स्वतंत्र भारत के वैज्ञानिकों तथा विद्वानों ने समय-समय पर, विशेषतः भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर, आयोजित संगोष्ठियों में इस प्राचीन स्मारक पर गर्व प्रकट किया है। कई दशक पूर्व, जब दिल्ली के प्रगति मैदान में स्थायी प्रदर्शनी-स्थल बनाया गया, तो भारत सरकार ने वहां दर्शकों के लिए इस स्तंभ के एक प्रतिरूप की स्थापना का निर्णय लिया।

लौह-स्तंभ का समय

इस लौह-स्तंभ के निर्माण का समय निर्धारित करने के लिए इस विशाल धात्विक स्मारक पर गुप्त ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्णित छह पंक्तियों के संस्कृत लेख को आधार बनाया गया है। पुरालिपि (palaeography), विषय, भाषा, लेखन-शैली आदि साक्ष्यों के आधार पर यूरोपीय तथा भारतीय विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि इस स्तंभ की स्थापना गुप्तकाल के पूर्वार्ध में (वर्ष 370 ई. से 430 ई. के बीच)

हुई होगी। स्तंभ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति में उल्लिखित सम्राट के बारे में कुछ मतभेद अवश्य हैं। परंतु उसमें भी चुनाव केवल समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त-द्वितीय (विक्रमादित्य) के बीच है, जिन्होंने क्रमशः 340 ई. से 376 ई. तक तथा 376 ई. से 414 ई. तक शासन किया था।

गुप्त ब्राह्मी लिपि में लिखी यह प्रशस्ति निश्चित रूप से मरणोपरांत है। अतः ऐसा लगता है कि यह प्रशस्ति महान योद्धा सम्राट के पुत्र द्वारा उत्कीर्ण की गई है, जो चंद्रगुप्त-द्वितीय या उसका पुत्र कुमारगुप्त-प्रथम हो सकता है। कुमारगुप्त का राज्य 414 ई. से 455 ई. तक रहा था। प्रशस्ति के लेख से पता लगता है कि यह एक ध्वजस्तंभ है जिसे भगवान विष्णु के किसी राजसी भक्त द्वारा विष्णु मंदिर में स्थापित किया गया था। यह भक्त एक महान विजेता व भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े भूभाग का सम्राट था और उसने अपने बाहुबल से राज्य का दक्षिणी समुद्र तक विस्तार किया था। इस वर्णन पर केवल सम्राट समुद्रगुप्त ही खरा उत्तरता है। अतः इस बात की प्रबल संभावना है कि यह स्तंभ समुद्रगुप्त के राज्यकाल के अंतिम वर्षों (375 ई. के आसपास) में स्थापित हुआ था। स्तंभ पर उत्कीर्ण छह स्पष्ट पंक्तियों में तीन संस्कृत श्लोक सम्राट चंद्रगुप्त-द्वितीय (विक्रमादित्य) के राज्य के प्रारंभिक वर्षों (लगभग 380 ई.) की ओर संकेत करते हैं। वह विद्वानों व कवियों का प्रशंसक एवं संरक्षक था। उसने अपने महान योद्धा व विजेता पिता की विरासत का उत्तराधिकारी बनने की कृतज्ञता प्रकट करने के लिए ही इस स्तंभ का निर्माण करवाया होगा।

इस चर्चा के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

1. स्तंभ की स्थापना का काल : लगभग 370-375 ई.
2. स्तंभ पर उत्कीर्ण अभिलेख का काल : लगभग 380-385 ई.

लौह-स्तंभ की निर्माण विधि

लोहे को बनाने व आकार देने की प्रक्रिया में क्या समस्याएं आती हैं, इसे समझने के लिए विश्व के पूरे परिवृश्य का अवलोकन करना पड़ेगा। लौह-युग की शुरुआत 1500 ई.पू. में शायद एशिया माइनर में हुई। धीरे-धीरे ब्लूम भट्टी की "ब्लूमरी प्रक्रिया" एशिया व यूरोप के कई भागों में फैली। पंद्रहवीं शताब्दी में इटली में धमन-भट्टी (blast furnace) का विकास हुआ। पिछली शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में विशाल स्तर पर इस्पात निर्माण की प्रक्रिया में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। जहां तक भारतीय उपमहाद्वीप का सवाल है, लौहयुग कई स्थानों पर साथ-साथ 1300-1200 ई.पू. में शुरू हुआ। 1200 ई.पू. से 200 ईसवी तक भारतीय महापाषाण संस्कृति (megalithic culture) लोहे के उपयोग तथा "ब्लूमरी पद्धति" के भारतीय रूपांतर से संबद्ध रही है,

जिसमें लौह-अयस्क के काठकोयला अवकरण द्वारा दसियों किलोग्राम की मात्रा में लोहा बनाया जाता था।

पिछले 30 वर्षों के वैज्ञानिक अध्ययन ने, जिसमें यूरोपीय तथा भारतीय वैज्ञानिकों व तकनीकीविदों ने भाग लिया है, 1500 वर्ष पूर्व इस बृहत् धात्विक स्मारक को बनाने में प्रयुक्त तकनीकी पर प्रकाश डाला है। इस स्तंभ पर हाल में किए गए अविनाशी, सूक्ष्मदर्शी, एक्स-किरण, रासायनिक एवं यांत्रिक परीक्षणों से और तथाकथित आदिवासी लौह-नमूनों के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि :

1. स्तंभ का लौह, अधिकांश आदिवासी लौह-नमूनों की भाँति ही, संघटन तथा संरचना की दृष्टि से विषमांगी है।
2. स्तंभ के लोहे का संघटन निम्न कार्बन इस्पात के समतुल्य है।
3. इसमें मैग्नीज की मात्रा नगण्य, परंतु फास्फोरस की मात्रा काफी अधिक है।
4. स्तंभ की वेल्ड-रेखाएं, मजबूत घन-ताड़न (hammering) के निशान, धातुमल-युक्त आक्साइड फिल्म तथा संघटन की विषमांगता—ये बातें संकेत करती हैं कि स्तंभ, तप्त स्लैग युक्त लौह पेस्ट के पिंडों से कुशल फोर्ज-वेल्डन प्रक्रिया द्वारा बनाया गया था।
5. स्तंभ के लोहे को पिघलाने तथा बाद में इसके दृढ़ीकरण के प्रमाण नहीं मिलते; अर्थात्, यह लोहा कभी भी द्रव अवस्था में नहीं था।
6. इसी आकार के स्तंभ को तप्त लोहे के पैनकेकों से घन-फोर्जन व वेल्डन प्रक्रिया द्वारा बनाने का प्रस्ताव, सन् 1924 में, अलीगढ़ के पारंपरिक लोहारों ने स्वयं पेश किया था।

इस प्रकार, आधुनिक धातु विज्ञानियों का मत है कि यह स्तंभ एक साथ नहीं ढाला गया था, बल्कि इसे तप्त पेस्ट के पिंडों से कुशल घन-फोर्जन व वेल्डन प्रक्रिया द्वारा बनाया गया था।

लौह-स्तंभ के संक्षारण-प्रतिरोध के कारण

दिल्ली के इस लौह-स्तंभ के बेलनाकार खुले भाग की संक्षारण-प्रतिरोध क्षमता विश्व भर के धातुविदों के लिए सबसे अधिक खोज का विषय रही है। 1500 वर्षों से अधिक समय तक धूप, वर्षा व हवा में रहने के बावजूद इसने आश्चर्यजनक प्रतिरोध-क्षमता का प्रदर्शन किया है। परंतु जमीन के नीचे के स्कंदाकार आधार या खांचायुक्त शीर्ष का संक्षारण खुले भाग के संक्षारण से अलग है।

पिछले 30 वर्षों में, मुख्यतः भारतीय प्रयोगशालाओं में किए गए अध्ययनों ने इसकी संक्षारण-मुक्तता के संबंध में स्तंभ के लोहे तथा उसके पर्यावरण पर काफी

प्रकाश डाला है।

इस स्तंभ के निम्न-कार्बन लोहे की प्रमुख विशेषताएँ हैं—उच्च फास्फोरस, निम्न गंधक, निम्न मैग्नीज, उच्च धातुमल तथा सूक्ष्म संरचना में विषमांगता। ये सभी लक्षण, अलग-अलग तथा एकसाथ, वायुमंडल में अच्छे संक्षारण-प्रतिरोध के कारण हो सकते हैं।

स्तंभ के जिस भाग पर दर्शक लगातार हाथ लगाते रहते हैं वह चमकदार पालिश युक्त हो गया है। इस चमकदार भाग में 50 माइक्रान तथा इसके दोनों ओर 600 माइक्रान तक की एक आसंजक परिरक्षक फिल्म पाई गई है। इस फिल्म का संघटन अद्वितीय है—67 प्रतिशत Fe_3O_4 (लोहे की चुंबकीय आक्साइड), 13 प्रतिशत FeO , दो प्रतिशत FePO_4 तथा तीन प्रतिशत सिलिका। इस आसंजक परिरक्षक फिल्म ने भी, जिसमें घन-फोर्जन प्रक्रिया के दौरान धातुमल भी शामिल हुआ होगा, इस स्तंभ के सदियों तक असाधरण संक्षारण-प्रतिरोध में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

इसके अतिरिक्त, दिल्ली की जलवायु ने भी इस संक्षारण-प्रतिरोध में अपनी भूमिका निभाई है। दिल्ली में लगभग पूरे वर्ष दिन का तापमान काफी अधिक होता है तथा आर्द्रता कम होती है। अतः यह स्तंभ काफी अधिक ताप शोषित करता है और इसी कारण इस पर ओस नहीं पड़ती है। वर्षा के बाद भी यह शीघ्र ही सूख जाता है। इस क्षेत्र के आसपास औद्योगिक प्रदूषण भी अपेक्षाकृत कम पाया गया है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों का पर्यावरण अम्लीय न होकर आधिकांशतः क्षारीय है। ये सभी परिस्थितियां इसके संक्षारण-प्रतिरोध में अपना योगदान देती हैं।

इसके अतिरिक्त, इसकी सूक्ष्म संरचना में विषमांगता पाई गई है। इसमें धातुमल अंतर्वेश तथा स्लिप बैंड व सूक्ष्म विकृतियों (microstrains) जैसी संरचनात्मक त्रुटियां पाई गई हैं, जो सामान्य अंतर्कणीय संक्षारण को रोकती हैं तथा संक्षारण प्रक्रिया के दर को कम करती हैं।

इस प्रकार, विभिन्न वैज्ञानिक अध्ययनों से इस स्तंभ के उच्च संक्षारण-प्रतिरोध के कई कारण स्पष्ट हुए हैं। इसका असामान्य रासायनिक संघटन, आसंजक परिरक्षक परत, अपेक्षाकृत शुष्क तथा कम प्रदूषित वातावरण, सूक्ष्म संरचनात्मक विषमांगताएँ — ये सभी दिल्ली के लौह-स्तंभ के बेलनाकार भाग के संक्षारण-प्रतिरोध में अपना-अपना योगदान देते हैं।

अतिरिक्त अनुसंधान की आवश्यकता

इस मोनोग्राफ में प्रस्तुत लगभग 150 वर्षों के अध्ययनों की जानकारी से हमें ऐसा

लग सकता है कि भारत के इस महानतम प्राचीन स्मारक के सभी रहस्य उजागर हो चुके हैं जिनके कारण यह लौह-स्तंभ सदियों तक जनसाधारण और वैज्ञानिकों की जिज्ञासा का विषय बना रहा है। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। अब भी कुछ कार्य शेष हैं। उदाहरणतः, अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि स्तंभ का मूल स्थान कहां था और मेहरोली में स्थापना से पूर्व लगभग 600 वर्षों तक इस का इतिहास क्या था? अत्यंत सुंदर रीडयुक्ट घंटी और खांचेदार चकतियों से सुसज्जित स्तंभ-शीर्ष की श्रेष्ठ कारीगरी को आज तक वांछित महत्व नहीं दिया गया है। गुप्तकाल की लौह तकनीकी को समझने तथा उस तकनीकी को प्रयोग में लाने के लिए व्यावहारिक सुझाव देने हेतु अभी कई और वैज्ञानिक एवं तकनीकी अध्ययनों की आवश्यकता है। एक आधुनिक प्रयोगशाला में इस स्तंभ से मिलती-जुलती संरचना को फोर्जन द्वारा बनाने का प्रयत्न आवश्यक है। इस कार्य से स्तंभ के अद्वितीय संक्षारण-प्रतिरोध को, जो विश्व भर में इस स्तंभ की चर्चा का मुख्य कारण है, निर्विवाद रूप से सिद्ध किया जा सकता है।

अंत में, यह कहना अत्यंत आवश्यक है कि इस मोनोग्राफ के निष्कर्ष अथवा भावी अध्ययन के परिणामों से इस लौह-स्तंभ की महत्ता में कोई अंतर नहीं पड़ता है। प्राचीन लौह-धातुकी के विश्व-इतिहास में यह भारतीय स्तंभ सदैव अपने अद्वितीय तथा गौरवशाली स्थान के लिए याद किया जाता रहेगा।

संदर्भिका

(कालक्रमानुसार)

1. ट्रॉयर, ए., जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 3, 118 (1834).
2. प्रिसेप, जेम्स, जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 3, 494 (1834).
3. प्रिसेप, जेम्स, जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 7, 629 (1838).
4. कनिंघम, ए., आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट्स, 1, 170 (1871).
5. भाऊ दाजी, जर्नल आफ दि बॉन्बे ब्राच आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 10, 63 (1871).
6. स्टीफेन, कार, दि आर्कियोलाजी एंड मॉन्मेटल रुइंस आफ दिल्ली, लुधियाना तथा कलकत्ता (1876) एवं बाद में आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
7. बाल, वी., इकोनॉमिक जियोलाजी आफ इंडिया, भाग-III, कलकत्ता, 338 (1881).
8. बेक, एल., *Die Geschichte des Eisens in Technischer und Kulturgeschichtlicher Beziehung* (in German) – दि हिस्ट्री आफ आयरन फ्राम टेक्नालाजिकल एंड कल्वरल हिस्टारिकल प्लाइंट्स आफ व्यू, एफ. वाइवेग और सोन, ब्रौनश्वेझ (1884).
9. फ्लीट, जे. एफ., कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकारम, खंड, III : दि गुप्ता इंस्क्रिप्शंस; इंट्रोडक्शन, टेक्स्ट एंड ट्रांसलेशंस, आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया (1887).
10. टर्नर, टी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 44, 179 (1887)
11. स्मिथ, वी. ए., जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1 (1897).
12. बिलग्रामी, एस. एच., जर्नल आफ आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 72, 75 (1899).
13. कांसियस, एच., एनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ

- इंडिया, 205 (1902-1903).
14. राय., ए. एनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, 111, (1902-1903).
15. राय, आचार्य पी. सी., ए हिस्ट्री आफ हिंदू केमिस्ट्री, खंड 1, कलकत्ता (1902).
16. साहनी, डी. आर., मेर्मायर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सोसायटी आफ इंडिया, 22, 45 (1907).
17. फर्गुसन, जेम्स, ए हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 11, 208 (1910).
18. मैकडॉनल, ए. ए., तथा कीथ, ए. बी., वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1912).
19. हैडफील्ड आर. ए., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 85, 134 (1912).
20. ग्रेव्स, एच. जी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 85, 187 (1912).
21. शास्त्री, हरप्रसाद, इंडियन एंटीक्वरी, 42, 217 (1913).
22. नियोगी, पंचानन, आयरन इन एंशेंट इंडिया, बुलेटिन 12, इंडियन एसोसिएशन फार दि कल्टीवेशन आफ साइंस, कलकत्ता (1914).
23. रोज़ेनहैन, डब्ल्यू., फिजिकल मेटलर्जी, कांस्टेबल, लंदन (1915).
24. रोज़ेनहैन, डब्ल्यू., ट्रांजेक्शन्स आफ दि फेराडे सोसायटी, 11, 236 (1916).
25. हैडफील्ड, आर. ए., प्रोसीडिंग्स आफ दि इंस्टीट्यूशन आफ सिविल इंजीनियर्स (लंदन), 214, 119 (1922).
26. रोज़ेनहैन, डब्ल्यू., इंट्रोडक्शन टु स्टडी आफ फिजिकल मेटलर्जी, कांस्टेबल, लंदन (1922).
27. लुइस, एच., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 112, 235 (1925).
28. हैडफील्ड, आर. ए., केमिकल इंजीनियरिंग एंड केमिकल कैटलॉग, लियोनार्ड हिल, लंदन (1926).
29. पेज, जे. ए., मेर्मायर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, नं. 22: एन हिस्टारिकल मेर्मायर आन दि कुतब एट दिल्ली, (1926).
30. बेनेडिक्स, सी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 118, 125 (1928).
31. हेरेरो, ए. एवं जुबिरिया, एम. डी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील

- इंस्टीट्यूट 118, 125 (1928).
32. मैलर, जे.डब्ल्यू. ए कंप्रिहेंसिव ट्रीटाइज़ आन इनार्गेनिक एंड थ्योरिटिकल केमिस्ट्री, खंड 12, लांगमैस एंड ग्रीन, लंदन (1932).
33. ट्रोंसटाड, एल. एवं सेजेवस्टेल, जे., जर्नल आफ आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 127, 425 (1933).
34. डेव्स, के., *Naturwissenschaften*, 23, 653 (1935).
35. सेठ, एच. सी., जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, 14, 117 (1937).
36. सेठ, एच. सी., इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, 13, 73 (1937).
37. बनर्जी, एस. के., जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी आफ बैंगाल, 4, 293 (1938).
38. डेव्स, के. एवं मेवेस, के. एफ., *Stahl und Eisen*, 58, 841 (1938).
39. वैग्नर, सी. एवं ट्रौड, डब्ल्यू. *Zeitschrift fuer Electrochemie*, 44, 392 (1938).
40. डेव्स, के., *Stahl und Eisen*, 60, 245 (1940).
41. डेव्स, के., मेवेस, के. एफ. एवं शुल्ज, ई. एच., *Korrosion und Metallschutz*, 19, 233 (1943).
42. मजुमदार, आर. सी., जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बैंगाल 9, 179 (1943).
43. मजुमदार आर. सी., रायचौधुरी, एच. सी. एवं दत्ता, के., एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, मैकमिलन, लंदन तथा सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयार्क (1946).
44. मानसिंह, अमेरिकन फाउंडीमैन, 18, 49 (1950).
45. मजुमदार, आर. सी. (संपादक), दि हिस्ट्री एंड कल्चर आफ दि इंडियन पीपल, खंड 1, भारतीय विद्या भवन, मुंबई (1951).
46. स्पेलर, एफ. एन., कोरोजन : कॉर्जेज एंड प्रिवेंशन, मैकग्रा हिल, न्यूयार्क (1951).
47. सान्चाल, बी. एवं प्रेस्टन, आर. एस. जे., नोट आन दि दिल्ली पिलर, केमिकल रिसर्च लैबोरेटरी, लंदन (1952).
48. हडसन, जे. सी. एवं स्टैनर्स, जे. एफ., जर्नल आफ एप्लाइड केमिस्ट्री, 3, 86 (1953).
49. हडसन, जे. सी., नेचर, 172, 499 (1953).
50. चिल्टन, जे. पी. एवं इवांस, यू. आर., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 181, 113, (1955).
51. राय, पी. (संपादक), हिस्ट्री आफ केमिस्ट्री इन एंशेंट एंड मीडियेवल

- इंडिया, इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता, (1956).
52. चिल्टन जे. पी. एवं इवांस, यू.आर., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 186, 98 (1957).
53. अग्रवाल, उर्मिला, जर्नल आफ यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी, 5, 37 (1957).
54. मानसिंह, मॉर्डन कास्टिंग्स, 33, 34 (1958).
55. एल्विन, वी., दि स्टोरी आफ टाटा स्टील, टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी, जमशेदपुर (1958).
56. पांडे वी. जी., जर्नल आफ यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी, 7 (1959).
57. लाराबी, सी. पी. एवं एलिस, ओ. बी., प्रोसीडिंग्स आफ दि अमेरिकन सोसायटी फार टेस्टिंग मैटेरियल (ASTM), 59, 193 (1959).
58. इवांस, यू.आर., दि कोरोज़न एंड आक्सीडेशन आफ मेटल्स, आर्नल्ड, लंदन (1960).
59. फ्लेक, ए. कोरोज़न टेक्नालाजी, 2, 387 (1960).
60. बैकर्ट, एम. एवं क्लेम, एच., Handbuch der metallographischen Aetzverfahren, मेटलोग्राफिक एचिंग टेक्नीक्स में, Verlag Grudstoffindustrie, लाइप्जिग (1962).
61. लाहिड़ी, ए. के., प्रोसीडिंग्स आफ दि सिंपोजियम आन कोरोज़न आफ मेटल्स, डिफेंस रिसर्च लैबोरेटरी, कानपुर, 31 (1962).
62. जोशी, जे. सी., भारतीय विद्या, 23, 69 (1963).
63. बार्जेट, डब्ल्यू. ई. एवं स्टैनर्स, आर. एफ., जर्नल आफ आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 201, 3 (1963).
64. बार्जेट, डब्ल्यू. ई. एवं स्टैनर्स, आर. एफ., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (NML) टेक्निकल जर्नल 5, 24 (1963).
65. घोष, एम. के., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (NML) टेक्निकल जर्नल, 5, 31 (1963).
66. लाहिड़ी, ए. के., बनर्जी, टी. एवं निझावन बी. आर., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (NML) टेक्निकल जर्नल, 5, 46 (1963).
67. नानावटी, एस. के., IIM-NML-ISI सिंपोजियम आन मेटल्स इन एशेंट इंडिया, NML जमशेदपुर में उद्घाटन भाषण (1963).
68. बनर्जी, एन. आर., दि आयरन एज इन इंडिया, मुशीराम मनोहरलाल, दिल्ली (1965).
69. ब्राउन, जे. आर. जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 205, 154 (1967).

70. घोष, एम. के., जर्नल आफ दि इंस्टीट्यूशन आफ इंजीनियर्स (इंडिया), 47, 7, (1967).
71. लाहिड़ी, ए. के., बनर्जी, टी. एवं निझावन, बी. आर., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (*NML*), टेक्निकल जर्नल 9, 32 (1967).
72. इवांस, यू. आर., दि कोरोजन एंड आक्सीडेशन आफ मेटल्स, फर्स्ट सप्लीमेंटरी वाल्यूम, आर्नाल्ड, लंदन (1968).
73. बसु, जे., इंडिया एंड दि एज आफ दि ब्राह्मणाज, संस्कृत पुस्तक भंडार, कलकत्ता (1968).
74. डावेल, एच. एच. (संपादक), दि कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री आफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन (1934), पुनर्मुद्रित, एस. चांद एंड कं. नई दिल्ली (1964).
75. रैगलेन, जी., कोरोजन साइंस, 9, 585 (1969).
76. रैगलेन, जी., कोरोजन साइंस, 10, 761 (1970).
77. ट्रैगर्ड, के. एफ., स्वीडिश कोरोजन इंस्टीट्यूट – अप्रकाशित कृतित्व/व्यक्तिगत संपर्क (1970).
78. चटर्जी, ए. बी. एवं अलतेकर, वी. ए., दि ईस्टर्न मेटल्स रिव्यू, विशेषांक, 77 (1973).
79. शर्मा, वाई. डी., दिल्ली एंड इट्रज नेबरहुड, आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, नई दिल्ली (1974).
80. फोटोन, एम. जी. एवं ग्रीन एम. डी., कोरोजन इंजीनियरिंग, मैक्सा हिल, न्यूयार्क (1978).
81. भारद्वाज, एच. सी., आस्पेक्ट्स आफ एंशेंट इंडियन टेक्नालाजी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (1979).
82. सुब्बारायण्णा, बी. वी., साइंस टुडे, 15, 10 (1981).
83. पत, जी. एन., दि सागा आफ इंडियन डामस्कस स्टील, इंडो सोवियत सेमिनार, बम्बई में भाषण (1981).
84. हेगड़े, के. टी. एम., इंडियन जर्नल आफ हिस्ट्री आफ सायंस, 16, 189 (1981).
85. मजुमदार, आर. सी. एवं दासगुप्ता, के. के., ए कंप्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड 3 (300–985 ई.) पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1982).
86. मैडिन, रॉबर्ट, ट्रांजेक्शन्स आफ दि इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मेटल्स, 35 14 (1982).
87. जगगी, ओ. पी., टेक्नालाजी इन एंशेंट इंडिया, आत्माराम एंड संस,

- दिल्ली (1983).
88. विलियम्स, जे. जी., दि आर्ट आफ गुप्ता इंडिया, नई दिल्ली (1983).
 89. श्रीनिवासन, एन. आर., आयरन एंड स्टील इंडस्ट्री इन इंडिया, टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी लि., बम्बई (1983).
 90. श्रीनिवासन, एन. आर., टेक्नालाजी आफ आयरन मेकिंग इन एशेंट एंड मीडियेवल इंडिया, टेक्नालाजी इन इंडिया (एशेंट एंड मीडियेवल पीरियड्स) मुंबई सेमिनार में भाषण, तथा अनंताचार्य इंडोलाजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट सीरीज़ नं. 15 में प्रकाशित (1983).
 91. टाइलकोट, आर. एफ., दि मैटलर्जिस्ट एंड मैटीरियल्स टेक्नालाजिस्ट, 343 (1984).
 92. हंटिंग्टन, एस., दि आर्ट आफ एशेंट इंडिया (बुद्धिस्ट, हिंदू एंड जैन), जॉन वेदरहिल, न्यूयार्क (1985).
 93. प्रकाश बी. एवं त्रिपाठी वी., मेटल्स एंड मैटीरियल्स, 568 (1986).
 94. चोपड़ा, पी. एन. एवं चोपड़ा, प्रभा, एंसाइक्लोपीडिया आफ इंडिया, खंड I, नई दिल्ली (1988).
 95. राव, के. एन. पी., मेटल न्यूज़, 11, 1 (1989).
 96. लाल, बी.बी., दि दिल्ली आयरन पिलर (1988), किंग चंद्र एंड दि मेहरोली पिलर में लेख—संपादक, एम. सी. जोशी एवं एस. के. गुप्ता (1989).
 97. बिंदल, वी. एन., अशोक कुमार, सोम, जे. एन., सुभाष चंद्र, युधिष्ठिर कुमार एवं जगदीश लाल, प्रोसीडिंग्स आफ आल्ट्रासॉनिक इंटरनेशनल, (UI-89), स्पेन, 95 (1989).
 98. बिंदल, वी. एन., अशोक कुमार, सोम, जे. एन., सुभाष चंद्र, युधिष्ठिर कुमार एवं जगदीश लाल, अल्ट्रासॉनिक नान-डिस्ट्रिक्टिव टेस्टिंग आफ दि आयरन पिलर यूजिंग पल्स इको टेक्नीक, नान डिस्ट्रिक्टिव टेस्टिंग एंड इंस्पेक्शन टेक्नीक्स, नेशनल सेमिनार, नई दिल्ली (1989).
 99. अग्रवाल, अश्विनी, राइज एंड फाल आफ दि इंपीरियल गुप्ताज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (1989).
 100. गोयल, एस. आर., रिएप्रेज़ल आफ दि प्राब्लम आफ आइडेंटिफिकेशन आफ किंग चंद्र एंड दि मेहरोली पिलर (पुस्तक में लेख), संपादक—एम. सी. जोशी एवं एस. के. गुप्ता (1989).
 101. जोशी, एम. सी. एवं गुप्ता, एस. के. (संपादक), किंग चंद्र एंड दि मेहरोली पिलर, कुसुमांजलि प्रकाशन, मेरठ (1989).
 102. कुप्पुराम, जी. एवं कुमुदमणि, के. (संपादक), हिस्ट्री आफ साइंस एंड

- टेक्नालाजी इन इंडिया, खंड-6, मेटल्स एंड मेटल्स टेक्नालाजी,
संदीप प्रकाशन, नई दिल्ली (1990).
103. दुबे, आर. के., पाउडर मेटलर्जी, 33, 119 (1990).
104. श्रीनिवासन, एन. आर., सप्लीमेंट टु दि मथली कमेटरी आन इंडियन
इकोनामिक कंडीशंस, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक ओपिनियन,
32, 1(1990).
105. सुंदरम, सी. वी., हिस्ट्री एंड मेटलर्जी इन इंडिया, बैंगल इंजीनियरिंग
कालेज, हावड़ा के मेटलर्जी डिपार्टमेंट की स्वर्ण-जयंती के अवसर पर
मुख्य भाषण (1990).
106. थापर, रोमिला, व्यक्तिगत संपर्क (1991).
107. मिश्र, विद्यानिवास, व्यक्तिगत संपर्क (1991).
108. राव, के. एन. पी. मेटल न्यूज़, 13, 9 (1991).
109. बिस्वास, ए. के., मिनरल्ज एंड मेटल्स इन एंशेंट इंडिया, INSA प्रोजेक्ट
रिपोर्ट, नई दिल्ली (1991).
110. बिस्वास, ए. के. एवं बिस्वास, सुलेखा, मिनरल्ज एंड मेटल्स इन एंशेंट
इंडिया (खंड 1), डी.के. प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली (1995).
111. हर्न, जी. आर., दि सेवेन सिटीज़ आफ दिल्ली, एस. बी. डब्ल्यू. पब्लिशर्स,
नई दिल्ली (1995).
112. बालसुब्रह्मण्यम, आर., ट्रांजेक्शंस आफ दि इंडियन इंस्टीट्यूट आफ
मेटल्स, (प्रेस में).

• • •

संदर्भिका

(वर्णक्रमानुसार)

1. अग्रवाल, अश्वनी, राइज एंड फाल आफ दि इंपीरियल गुप्ताज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (१९८९).
2. अग्रवाल, उर्मिला, जर्नल आफ यू. पी. हिस्ट्रारिकल सोसायटी, ५, ३७ (१९५७).
3. इवांस, यू. आर., दि कोरोजन एंड आक्सीडेशन आफ मेटल्स, आर्नाल्ड, लंदन (१९६०).
4. इवांस, यू. आर., दि कोरोजन एंड आक्सीडेशन आफ मेटल्स, फर्स्ट सप्लीमेंटरी वाल्यूम, आर्नाल्ड, लंदन (१९६८).
5. एल्विन, वी., दि स्टोरी आफ टाटा स्टील, टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी, जमशेदपुर (१९५८).
6. कनिंघम, ए., आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट्स, १, १७० (१८७१).
7. कांसियस, एच., एनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, २०५ (१९०२-१९०३).
8. कुप्पुरम, जी. एवं कुमुदमणि, के. (संपादक), हिस्ट्री आफ साइंस एंड टेक्नालाजी इन इंडिया, खंड ६, मेटल्स एंड मेटल्स टेक्नालाजी, संदीप प्रकाशन, नई दिल्ली (१९९०).
9. गोयल, एस. आर., रिएन्जेजल आफ दि प्राब्लम आफ आइडैंटिफिकेशन आफ किंग चंद्र, “किंग चंद्र एंड मेहरोली पिलर”, पुस्तक में लेख, संपादक-एम. सी. जोशी एवं एस. के. गुप्ता (१९८९).
10. ग्रेव्स, एच. जी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, ८५, १८७ (१९१२).
11. घोष, एम. के., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (NML) टेक्निकल जर्नल, ५, ३१ (१९६३).
12. घोष, एम. के., जर्नल आफ दि इंस्टीट्यूशन आफ इंजीनियर्स (इंडिया), ४७ ७७ (१९६७).

13. चटर्जी, ए. बी. एवं अलतेकर, बी. ए., दि ईस्टर्न मेटल्स रिव्यू, विशेषांक, 77 (1973).
14. चिल्टन, जे. पी. एवं इवांस, यू. आर., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 181, 113, (1955).
15. चिल्टन जे. पी. एवं इवांस, यू. आर., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 186, 98 (1957).
16. चोपड़ा, पी. एन. एवं चोपड़ा, प्रभा, एंसाइक्लोपीडिया आफ इंडिया, खंड 1, नई दिल्ली (1988).
17. जग्गी, ओ. पी., टेक्नालाजी इन एंशेंट इंडिया, आत्माराम एंड संस, दिल्ली (1983).
18. जोशी, जे. सी., भारतीय विद्या, 23, 69 (1963).
19. जोशी, एम. सी. एवं गुप्ता, एस. के. (संपादक), किंग चंद्र एंड दि मेहरोली पिलर, कुसुमांजलि प्रकाशन, मेरठ (1989).
20. टर्नर, टी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 44, 179 (1893).
21. टाइलकोट, आर. एफ., दि मैटलर्जिस्ट एंड मैटरियल्स टेक्नालाजिस्ट, 343 (1984).
22. द्रायर, ए., जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 3, 118 (1834).
23. ट्रैगर्ड, के. एफ., स्वीडिश कोरोजन इंस्टीट्यूट—अप्रकाशित कार्य/व्यक्तिगत संपर्क (1970).
24. ट्रॉस्टाड, एल. एवं सैजेवस्टेल, जे., जर्नल आफ आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 127, 425 (1933).
25. डावेल, एच. एच. (संपादक), दि कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री आफ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन (1934), पुनर्मुद्रित, एस. चांद एंड कं., नई दिल्ली (1964).
26. डेक्स, के., *Naturwissenschaften*, 23, 653 (1935).
27. डेक्स, के. तथा मेवेस, के. एफ., *Stahl und Eisen*, 58, 841 (1938).
28. डेक्स, के., *Stahl und Eisen*, 60, 245 (1940).
29. डेक्स, के., मेवेस, के. एफ. एवं शुल्ज, ई. एच., *Korrosion und Metallschutz*, 19, 233 (1943).
30. थापर, रोमिला, व्यक्तिगत संपर्क (1991).
31. दुबे, आर. के., पाउडर मेटलजी, 33, 119 (1990).
32. नानावटी, एस. के., IIM-NML-ISI, सिंपोजियम आन मेटल्स इन एंशेंट

- इंडिया, NML जमशोदपुर में उद्घाटन भाषण (1963).
33. नियोगी, पंचानन, आयरन इन एंशेंट इंडिया, बुलेटिन 12, इंडियन एसोसिएशन
फार दि कल्टीवेशन आफ साइंस (1914).
34. पंत, जी. एन., दि सागा आफ इंडियन डामस्कस स्टील, इंडो सोवियत
सेमिनार, मुंबई में भाषण (1981).
35. पांडे वी. जी., जर्नल आफ यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी, 7 (1959).
36. पेज, जे. ए., मेमायर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्व आफ इंडिया, नं.
22 : एन हिस्टारिकल मेमायर आन दि कुतब एट दिल्ली (1926).
37. प्रकाश, बी. एवं त्रिपाठी, वी., मेटल्स एंड मैटीरियल्स, 568 (1986).
38. प्रिसेप, जेम्स, जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 3, 494
(1834).
39. प्रिसेप, जेम्स, जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 7, 629
(1838).
40. फ्लीट, जे. एफ., कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकारम, खंड III ;
दि गुप्ता इंस्क्रिप्शंस – इंट्रोडक्शन, टेक्स्ट एंड ट्रांसलेशंस,
आर्कियोलाजिकल सर्व आफ इंडिया (1887)
41. फ्लेक, ए., कोरोजन टेक्नालाजी, 2, 387 (1960).
42. फर्गुसन, जेम्स, ए हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, II, 208
(1910).
43. फॉटोन, एम. जी. एवं ग्रीन एम. डी., कोरोजन इंजीनियरिंग, मैक्ग्रा हिल,
न्यूयार्क (1978).
44. बनर्जी, एन. आर., दि आयरन एज इंडिया, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली
(1965).
45. बनर्जी, एस. के., जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 4,
293 (1938).
46. बसु, जे., इंडिया एंड दि एज आफ दि ब्राह्मणाज़, संस्कृत पुस्तक भंडार,
कलकत्ता (1968).
47. बार्जेट, डब्ल्यू. ई. एवं स्टैनर्स, आर. एफ., जर्नल आफ आयरन एंड स्टील
इंस्टीट्यूट, 201, 3 (1963).
48. बार्जेट, डब्ल्यू. ई. एवं स्टैनर्स, आर. एफ., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी
(NML) टेक्निकल जर्नल, 5, 24 (1963).
49. बाल, वी., इकोनॉमिक जियोलाजी आफ इंडिया, भाग-III, कलकत्ता, 338
(1881).
50. बालसुब्रह्मण्यम, आर., ट्रांजेक्शंस आफ दि इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मेटल्स,

(प्रेस में).

51. बिलग्रामी, एस. एच., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 72, 75 (1899).
52. बिस्वास, ए. के., मिनरल्ज़ एंड मेटल्स इन एंशेंट इंडिया, INSA प्रोजेक्ट रिपोर्ट, नई दिल्ली (1991).
53. बिस्वास, ए. के. एवं बिस्वास, सुलेखा, मिनरल्ज़ एंड मेटल्स इन एंशेंट इंडिया, (खंड 1) डी. के. प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली (1995).
54. बिंदल, वी. एन., अशोक कुमार, सोम, जे. एन., सुभाष चंद्र, युधिष्ठिर कुमार एवं जगदीश लाल, प्रोसीडिंग्स आफ अल्ट्रासानिक इंटरनेशनल (UI-89), स्पेन, 95 (1989).
55. बिंदल, वी. एन., अशोक कुमार, सोम, जे. एन., सुभाष चंद्र, युधिष्ठिर कुमार एवं जगदीश लाल, अल्ट्रासानिक नान-डिस्ट्रिक्टिव टेस्टिंग आफ दि आयरन पिलर यूजिंग पल्स इको टेक्नीक, में नान डिस्ट्रिक्टिव टेस्टिंग एंड इंस्पेक्शन टेक्नीक्स, नेशनल सेमिनार, नई दिल्ली (1989).
56. बैक, एल., *Die Geschichte des Eisens in technischer und kulturgeschichtlicher Beziehung*, (दि हिस्ट्री आफ आयरन फ्राम टेक्नालाजिकल एंड कल्वरल हिस्टरिकल प्वाइंट्स आफ व्यू), एफ. वाइवेग एंड सोन, ब्रौनश्वेइग (1884).
57. बैकर्ट, एम. एवं क्लेम, एच., *Handbuch der metallographischen Aetzverfahren-* (मेटलोग्राफिक एचिंग टेक्नीक्स), Verlag Grundstoffindustrie, लाइप्ज़िग (1962).
58. बेनेडिक्स, सी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 118, 125 (1928).
59. ब्राउन, जे. आर., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 205, 154 (1967).
60. भाऊ दाजी, जर्नल आफ बॉम्बे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 10, 63 (1871).
61. भारद्वाज, एच. सी., आस्पेक्ट्स आफ एंशेंट इंडियन टेक्नालाजी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (1979).
62. मजुमदार, आर. सी., जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, 9, 179 (1943).
63. मजुमदार, आर. सी., रायबौधुरी, एच. सी. एवं दत्ता, के. एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इंडिया, मैकमिलन, लंदन तथा सेंट मार्टिन्स प्रेस, न्यूयार्क (1946).
64. मजुमदार, आर. सी. (संपादक), दि हिस्ट्री एंड कल्वर ऑफ दि इंडियन

- पीपल, खंड 1, भारतीय विद्या भवन, मुंबई (1951).
65. मजुमदार, आर. सी. एवं दासगुप्ता, के. के., ए कंप्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड 3 (300-985 ई.), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1982).
66. मानसिंह, अमेरिकन फाउंड्रीमैन, 18, 49 (1950).
67. मानसिंह, मार्डर्न कास्टिंग्स, 33, 34 (1958).
68. मिश्र, विद्यानिवास, व्यक्तिगत संपर्क (1991).
69. मैडिन, राबर्ट, ट्रांजेक्शंस आफ दि इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मेटल्स, 35, 14 (1982).
70. मैकडानल, ए. ए. तथा कीथ, ए. बी., वेदिक इंडेक्स आफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1912).
71. मैलर, जे. डब्ल्यू., ए कंप्रिहेंसिव ट्रीटाइज़ आन इनार्गेनिक एंड थ्योरिटिकल केमिस्ट्री, खंड 12, लांगमैन्स एंड ग्रीन, लंदन (1932).
72. राव, के. एन. पी., मेटल न्यूज, 11, 1 (1989).
73. राव, के. एन. पी., मेटल न्यूज, 13, 9 (1991).
74. राय, ए., एनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्व आफ इंडिया, 111 (1902-1903).
75. राय, आचार्य पी. सी., हिस्ट्री आफ हिंदू केमिस्ट्री, खंड 1, कलकत्ता (1902).
76. राय, पी. (संपादन), ए हिस्ट्री आफ केमिस्ट्री इन एशेंट एंड मीडियेवल इंडिया, इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता, (1956).
77. रैगलेन, जी., कोरोजन साइंस, 9, 585 (1969).
78. रैगलेन, जी., कोरोजन साइंस, 10, 761 (1970).
79. रोजेनहेन, डब्ल्यू., फिजिकल मेटलर्जी, कांस्टेबल, लंदन (1915).
80. रोजेनहेन, डब्ल्यू., ट्रांजेक्शंस आफ दि फैराडे सोसायटी, 11, 236 (1916).
81. रोजेनहेन, डब्ल्यू., इंट्रोडक्शन टु स्टडी आफ फिजिकल मेटलर्जी, कांस्टेबल, लंदन, (1922).
82. लाराबी, सी. पी. एवं एलिस, ओ. बी., प्रोसीडिंग्स आफ दि अमेरिकन सोसायटी फार टेरिटिंग मैटीरियल, (ASTM), 59, 193 (1959).
83. लाल, बी. बी., दि दिल्ली आयरन पिलर, (1988), में किंग चंद्र एंड दि मेहरोली पिलर लेख, संपादक, एम. सी. जोशी एवं एस. के. गुप्ता, (1989).
84. लाहिड़ी, ए. के., प्रोसीडिंग्स आफ दि सिंपोजियम आन कोरोजन आफ मेटल्स, डिफेंस रिसर्च लैबोरेटरी, कानपुर, 31 (1962).

85. लाहिडी, ए. के., बनर्जी, टी. एवं निझावन बी. आर., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (*NML*) टेक्निकल जर्नल, 5, 46 (1963).
86. लाहिडी, ए. के., बनर्जी, टी. एवं निझावन बी. आर., नेशनल मेटलर्जिकल लैबोरेटरी (*NML*) टेक्निकल जर्नल, 9, 32 (1967).
87. लुइस, एच., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 112, 235 (1925).
88. विलियम्स, जे. जी., दि आर्ट आफ गुप्ता इंडिया, नई दिल्ली (1983).
89. वैग्नर, सी. एवं ट्रौड, डब्ल्यू., *Zeitschrift fuer Electrochemie*, 44, 392 (1938).
90. शर्मा, वाई. डी., दिल्ली एंड इंटर्नेशनल नेबरहुड, आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, नई दिल्ली (1974).
91. शास्त्री, हरप्रसाद, इंडियन एंटीक्वरी, 42, 217 (1913).
92. श्रीनिवासन, एन. आर., आयरन एंड स्टील इंडस्ट्री इन इंडिया, टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी लि., मुंबई (1983).
93. श्रीनिवासन, एन. आर., टेक्नालाजी आफ आयरन मेकिंग इन एंशेट एंड मीडियेवल इंडिया, टेक्नालाजी इन इंडिया (एंशेट एंड मीडियेवल पीरियड्स), मुंबई सेमिनार में भाषण तथा अनंताचार्य इंडोलाजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट सीरीज़ नं. 15 में प्रकाशित (1983).
94. श्रीनिवासन, एन. आर., सप्लीमेंट टु दि मंथली कमेंटरी आन इंडियन इकोनॉमिक कंडीशन्स, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक ओपिनियन, 32, 1 (1990).
95. स्टीफेन, कार, दि आर्कियोलाजी एंड मानुमेंटल रसेस आफ दिल्ली, लुधियाना तथा कलकत्ता (1876) एवं आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली.
96. स्मिथ, वी. ए., जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1 (1897).
97. स्पेलर, एफ. एन., कोरोजन : काज़ेज़ एंड प्रिवेशन, मैकग्रा हिल, न्यूयार्क (1951).
98. सान्याल, बी. एवं प्रेस्टन, आर. एस. जे., नोट आन दि दिल्ली पिलर, केमिकल रिसर्च लैबोरेटरी, लंदन (1952).
99. साहनी, डी. आर., मेमायर्स आफ दि आर्कियोलाजिकल सोसायटी आफ इंडिया, 22, 45 (1907).
100. सेठ, एच. सी., जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, 14, 117 (1937).
101. सेठ, एच. सी., इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, 13, 73 (1937).
102. सुब्बारायणा, बी. वी., साइंस टुडे, 15, 10 (1981).
103. सुंदरम, सी. वी., हिस्ट्री एंड मेटलर्जी इन इंडिया, बैंगल इंजीनियरिंग कालेज, हावड़ा, के मेटलर्जी डिपार्टमेंट की स्वर्ण जयंती के अवसर पर मुख्य

- भाषण (1990).
104. हडसन, जे. सी. एवं स्टेनर्स जे. एफ., जर्नल आफ एप्लाइड केमिस्ट्री, 3, 86 (1953).
105. हडसन, जे. सी., नेचर, 172, 499 (1953).
106. हर्न, जी. आर., दि सेवेन सिटीज आफ दिल्ली, एस. बी. डब्ल्यू पब्लिशर्स, नई दिल्ली (1905).
107. हेगडे, के. टी. एम., इंडियन जर्नल आफ हिस्ट्री आफ साइंस, 16, 189 (1981).
108. हेररो, ए. एवं जुबिरिया, एम. डी., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 118, 125 (1928).
109. हैडफील्ड आर. ए., जर्नल आफ दि आयरन एंड स्टील इंस्टीट्यूट, 85, 134 (1912).
110. हैडफील्ड, आर. ए., प्रोसीडिंग्स आफ दि इंस्टीट्यूशन आफ सिविल इंजीनियर्स (लंदन), 214, 119 (1922).
111. हैडफील्ड, आर. ए., केमिकल इंजीनियरिंग एंड केमिकल कैटेलाग, लेनार्ड हिल, लंदन (1926).
112. हंटिंग्टन, एस., दि आर्ट आफ एंशॉट इंडिया (बुद्धिस्ट, हिंदू एंड जैन), जान वेदरहिल, न्यूयार्क (1985).

• • •

हिंदी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द

अति-सुघट्यता	- Super Plasticity	ऋणोद	- Cathode
अनीलन	- Annealing	कठोरण	- Hardening
अपघर्षण	- Abrasion	कण-सीमा	- Grain-boundary
अपचयन	- Reduction	कर्म कठोरण	- Work-hardening
अपरदन	- Erosion	कालक्रम	- Chronology
अपक्षीणन	- Degradation	कंदाकार	- Bulbous
अभिलेख	- Inscription	गैल्वेनी संक्षारण	- Galvanic Corrosion
अम्लवर्षा	- Acid Rain	गर्तन	- Pitting
अयस्क	- Ore	गलनांक	- Melting point
अलंकरण	- Decoration	गुटिकायन	- Pelletisation
अवकरण	- Reduction	घन-फोर्जन	- Hammer forging
अवातन	- Deaeration	चालकता	- Conductivity
अविनाशी परीक्षण	- Non destructive testing	चित्र-लेखन	- Hieroglyphy
आक्सीकरण	- Oxidation	चित्रित धूसर बर्तन	- Painted Grey Ware
आधात-वर्धनीय	- Malleable	चूर्ण-धातुकी	- Powder Metallurgy
आसंजक	- Adherent	जंग	- Rust
अंतरापृष्ठ	- Interface	ट्रीयर	- Tuyerer
अंतर्कणीय	- Inter-granular	ढलवां लोहा	- Cast Iron
अंतर्क्रिया	- Interaction	तप्त-फोर्जन	- Hot forging
अंतर्वेश	- Inclusion	तरंग-दैर्घ्य	- Wave-length
आंतरिक प्रतिबल	- Internal stress	तापीय-यांत्रिक	- Thermo-mechanical
इस्पात	- Steel	उपचार	- Treatment
उत्खनन	- Excavation	तीर-शीर्ष	- Arrow-head
उत्तरी काली-	- Northern-Black-	तुङ्ड	- Nozzle
पालिश बर्तन	Polish Ware	दिष्टकरण	- Rectification
उद्भासन	- Exposure		
ऊष्मा-उपचार	- Heat treatment		

दातेदार	- Serrated	ब्लूम-भट्टी	- Bloom Furnace
द्रुत-पिंडित	- Rapidly solidified	बेल्लन	- Rolling
धनोद	- Anode	भौतिक धातुकी	- Physical Metallurgy
धमन भट्टी	- Blast furnace	महापाषाण युग	- Megalithic Age
धातुकर्म	- Metal working	मिश्रधातु	- Alloy
धातुकी	- Metallurgy	मीठा पानी	- Fresh water
धातुशिल्प	- Metallurgy	मुद्रा विज्ञान	- Numismatics
धातु चित्रण	- Metallography	मृदा	- Soil
धातुमल	- Slag	यांत्रिक-कर्मण	- Mechanical working
धातुलेख	- Metal inscription	रिक्ति	- Void
धूसर बर्तन	- Grey ware	रेडियोसक्रिय कार्बन-	- Radioactive-
नक्काशी	- Engraving	आयुनिर्धारण	Carbon Dating
निष्कर्षण	- Extraction	लिप्तरण	- Transcription
निक्षारण	- Etching	लौह-स्तंभ	- Iron Pillar
पट्टिका	- Tablet	व्यतिक्रम	- Discontinuity
पराबैंगनी	- Ultraviolet	विद्युत-अपघट्य	- Electrolyte
पराभव विनु	- Yield point	विद्युत-रासायनिक	- Electrochemical
पराश्रव्य	- Ultrasonic	विफलता	- Failure
परिरक्षक परत	- Protective layer	विभंजन	- Fracture
परिशुद्ध	- Ultra pure	विलेपन	- Coating
पर्यावरण	- Environment	विश्लेषण	- Analysis
पाषाण युग	- Stone Age	विषमांगी	- Heterogeneous
पिटवां लोहा	- Wrought iron	वेल्डन	- Welding
पुरातत्व	- Archaeology	बुट्ज	- Wootz
पुरालिपि विज्ञान	- Palaeography	वंशावली	- Genealogy
पुरालेखन शास्त्र	- Epigraphy	शोधन	- Purification
पैराबोलीय नियम	- Parabolic Law	श्रांति	- Fatigue
प्रगलन	- Melting	स्तंभ-शीर्ष	- Capital
प्रतिघात-कठोरता	- Impact hardness	स्पद-प्रतिघानि विधि	- Pulse-Echo-
प्रवर्धन	- Amplification		Technique
प्रशस्ति	- Eulogy	सार्वभौमिक	- Universal
प्रावस्था	- Phase	सिंटरन	- Sintering
फोर्जन	- Forging		

सूचक	- Typical	संविरचन	- Fabrication
सूक्ष्मदर्शी	- Microscope	संक्षारण प्रतिरोध	- Corrosion-
सूक्ष्म संरचना	- Microstructure		Resistance
संपिण्डन	- Consolidation	क्षरण	- Wear
संरंधता	- Porosity	क्षारीयता	- Basicity
संरोहण	- Entrainment		

● ● ●

अनुक्रमणिका

- अतरंजीखेड़ा, 64
अनंगपाल-प्रथम, 12, 31
अनंगपाल-द्वितीय, 12, 24
अमरीका, 6, 8, 52, 91
अरब देश, 6
अली असगर हुसैन, 31
अलीगढ़, 84, 112
अविनाशी परीक्षण, 82
असीरियाई, 57
आक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश, 50
आगरा, 47
आदम चोटी, 104
आधुनिक भारत में लौह इस्पात, 7
आंध्र प्रदेश, 5, 66, 71
आर्य प्रभाव, 62
आर्चर, कैप्टन, 11
आस्ट्रेलिया, 52
आहाड़, 66
इजरायल, 31
इटली, 57, 111
इंग्लैड, 6, 91
इंद्रजी, डा. भगवानलाल, 11
इंदौर, 48
इलाहाबाद, 26, 28
इलाहाबाद स्तंभ, 18
इलियट, लेफ्टिनेंट विलियम, 11
उज्जैन, 64
उत्तर प्रदेश, 64
उपनिषद, 4
उड़ीसा, 62, 77
एक्स-किरण, 78, 104, 112
एटा, 30
एरण स्मारक, 17
एशिया माझनर, 57, 111
एशियाटिक सो. आफ बैंगाल, 11
औद्योगिक क्रांति, 7
औरंगजेब, 47
औरंगाबाद, 47
कन्नड, 5
कन्याकुमारी, 5, 62
कनाडा, 52
कर्नाटक, 71
कनिष्ठ, 42
कनिंघम, कर्नल ए., 3, 11, 23
कमिंग्स, 19
कालिदास, 40
कालीबंगा, 3
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 45
काश्मीर, 5, 40, 62
कांस्य-युग, 50
कुतुब मीनार, 10, 17
कुमारगुप्त, 18, 28, 46, 111
कुतुबुद्दीन ऐबक, 12
कुलटी, 7
कुषाण वंश, 41
कुषाण साम्राज्य, 72
केरल, 66
कोणार्क, 78
कोम्बरमेयर, लार्ड, 11
कोर्गला, 91
कोलिजियम, 25
कौशांबी, 64
खारतूम, 91
ग्वालियर अयस्क, 79
गंगाईकोङ्डचोळपुरम्, 47
गांधार कब्र सभ्यता, 64

- गुजरात, 3, 40
 गुप्त काल, 10, 18, 43, 46, 110
 गुप्त वंश, 41
 गुप्त ब्राह्मी लिपि, 26, 111
 गुफकाल, 66
 गुप्ता, एस. के., 42
 गैलवेनी शृंखला, 94
 गोडलमिंग, 91
 गोपाल, लल्लनजी, 42
 गोएथाइट, 52
 गोयल, श्रीराम, 31, 43-45
 गौतम बुद्ध, 39
 घोष, एम. के., 78, 98
 चंद्रगुप्त-द्वितीय, 27, 41, 45, 46, 111
 चंद्रप्रकाश, 44, 45
 चंद्रगुप्त मौर्य, 39, 41
 चीन, 6, 8, 52
 चौहान, छत्रसिंहजी, 38
 जमशेदपुर, 7, 9, 18, 23
 जर्मनी, 6, 8
 जवाहललाल नेहरू, 7
 जहांगीर, 25
 जापान, 7, 8
 जैन, 12
 जोन्स, सर विलियम, 39
 जोशी, एम., 42, 44
 झोब, 64
 टाम्पसन, डा. मरे, 13
 टामस, 59
 तमिलनाडु, 47, 66
 तक्षशिला, 3, 72
 तंजावुर, 47
 ताजमहल, 47
 ताम्र-पाषाण युग, 50
 तुर्की, 5
 तेलंगाना क्षेत्र, 5
 तेलुगु, 5
 तोमर वंश, 23
 थर्मोपाइली, 4
 दमिश्क तलवारें, 6
 द्वितीय विश्वयुद्ध, 76
 दक्षिण अफ्रीका, 52
 दुर्गार्जन सिंह, 38
 दुबे, आर. के., 82
 देवगढ़, 38
 धार लौह-स्तंभ, 48
 नरधाटी, 38
 नाइजीरिया, 91
 नानावटी, एस. के., 9
 नयकुंड, 66
 नार्वे, 52
 निझावन, बी. आर., 23, 78
 नोह, 66
 पंचवर्षीय योजना, 7
 पंजाब, 64
 पर्शिया, 6
 पाकिस्तान, 3, 5, 62
 पतंजलि, 40
 पैथ्यमपल्ली, 66
 पाषाण युग, 50
 पिट्सबर्ग, 91
 पुराण, 4
 पुरु, 4
 पोरकायरी, 4
 पृथ्वीराज, 38
 प्रगति मैदान, नई दिल्ली, 110
 प्रकाश, बी., 62, 82
 प्राचीन भारत में लौह प्रौद्योगिकी, 62
 प्रिंसेप, जेम्स, 11, 26, 31
 फ्लीट, जे. एफ., 11, 18, 28
 फेराइट, 99
 फर्गुसन, जेम्स, 42, 109
 फ्रांस, 52
 बृहदीश्वर मंदिर, 47
 बिनेल पैमाना, 99
 बनर्जी, टी., 78
 बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, 82
 बर्लिन 91
 बलूचिस्तान, 64
 ब्राजील, 8, 52
 बायरन, 25
 बार्जेट, डब्ल्यू. ई., 12, 98

- बराकर वकर्स, 7
 बाल, बी., 5
 बालसुखद्वयम्, आर., 108
 बिलनदेव, 23
 बिलसड़-स्तंभ, 28
 बिलसड़-स्तंभ अभिलेख, 18
 बिस्वास, ए. के., 62, 82, 98
 बिहार, 7, 62, 64
 बिंदल, बी., 82, 98
 बीकानेर, 64
 बैसेमर, 59
 बुधगुप्त, 17
 बोकारो, 7
 बोर्नियो, 6
 भर्तृहरि, 40
 भद्रावती, 7
 भाऊ दाजी, डा., 11, 12, 31
 भवभूति, 40
 भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, 50
 भारत,
 —सांस्कृतिक क्षेत्रों की लौह वस्तुएं, 64
 —स्वदेशी लौह तकनीकी की प्रगति, 69
 भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, 18, 19, 24,
 80
 भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान, कानपुर, 82
 भिलाई, 7
 मथुरा, 11, 46
 मध्यपूर्व, 6
 मध्य प्रदेश, 48, 62, 64, 77
 महाभारत, 4
 महारावजी छत्रसिंहजी, 38
 महाराष्ट्र, 64, 66
 मारिटानिया, 52
 मिल, डा., 11
 मिस्सनिवासी, 4
 मेसोपोटामिया, 50
 मेहरोली, 10, 48
 मैग्नेटाइट, 52, 82
 मैसूर इस्पात संयंत्र, भद्रावती, 7
 मोहेजो—दंडो, 3
 मौर्य वंश, 39, 41
 यूरोप, 59, 109
 यूरोपीय देश, 6
 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 10
 रक्षा धातुकी अनु. प्रयोगशाला, 50
 राउरकेला, 7
 राजस्थान, 3
 राजराज चौल, 47
 राजा चंद्र, 13, 28, 29, 31, 38, 40,
 41, 45
 राजा छत्रसिंह, 38
 राजा छत्रसिंहजी चौहान, 38
 राजा देवीसिंह, 38
 राजा भोज, 48
 रामगुप्त, 45
 रामायण, 4
 रायपिथौरा का किला, 31
 राव, के. एन. पी., 4, 62, 98
 राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला,
 नई दिल्ली, 18, 23, 82
 राष्ट्रीय मानक ब्यूरो,
 अमरीका, 85
 रेडियोसफ्रिय कार्बन—
 कालनिर्धारण, 64
 रैगलेन, जी., 78, 98
 रोम, 25
 ऋणोदी अभिक्रिया, 86
 लक्समबर्ग, 52
 लाइबेरिया, 52
 लाट मस्जिद, 48
 लागोस, 91
 लाल, बी. बी., 19, 23, 80, 98
 लालकोट, 24
 लाहिड़ी, ए. के., 78, 98
 लोथल, 3
 लोरालई, 64
 लौह, 64
 लौह-युग, 3, 50, 110-11
 व्यास, 40
 वसुबंधु, 45
 वासुकि, 24, 25
 वामन, 45

- वाल्पीकि, 40
 वाल्किक, 29, 31
 विक्रमादित्य, 27, 111
 विदर्भ, 66
 विष्णु, 18, 29, 46, 47,
 विष्णुपद मिरि, 46
 विश्वेश्वरैया, 7
 विशाखापट्टनम्, 7
 वुट्ज, 5, 6
 वेद,
 —अथर्व, 4
 —ऋग्, 4
 —यजुर्, 4
 वेनेज्युएला, 52
 वैग्नर, 108
 वै. एवं औ. अनुसंधान परिषद, 18
 वैशाली, 64
 वंग देश, 29
 वैष्णव, 12, 45
 शर्मा, जी. आर., 42
 शक, 45
 शाहजहां, 25, 47
 शाहजहानाबाद, 17
 शिला लेखन, 41
 शोफील्ड, 91
 शेषनाग, 24
 शैव, 12
 श्रीनिवासन, एन. आर., 4
 श्रीलंका, 104
 स्टाकहोम, 78
 स्टीफेन, कार, 11, 12, 17
 स्टैनर्स, आर. एफ., 12, 98
 स्मिथ, वी. ए., 17, 48
 स्पेनाइट, 4
 स्वात घाटी, 64
 स्वीडन, 52
 समुद्रगुप्त, 18, 26, 27, 41, 45, 46,
 47, 111
 सम्राट अशोक, 4, 18, 26, 39, 41
 संक्षारण,
 —वातावरणीय, 87
 —वैद्युत रासायनिक सिद्धांत, 86
 —मीठा पानी, 91
 —क्रिया विधि, 86
 —समुद्री पानी, 92
 —मृदा, 92
 साकची, 7
 सिडेराइट, 52
 सिकंदर महान, 4
 सिंधु घाटी सभ्यता, 3
 सिंधु नदी, 44
 सिंहबाद, 78
 सीमेन्स, 59
 सुमात्रा, 6
 सुंदरम्, सी. वी., 4
 सुश्रुत, 4
 सूडान, 91
 सोवियत संघ, 52
 सैंडीहुड, 91
 हल्लूर, 66
 हड्ड्या संस्कृति, 3
 हिती, 62
 हिमाचल प्रदेश, 64
 हीथ, टी. ए., 5
 हिस्टारिकल मेटलर्जी सो., ब्रिटेन, 79
 हीरोडोटस्, 4
 हेमेटाइट, 52
 हैडफील्ड, सर राबर्ट, 5, 18, 19, 23
 त्रिपाठी, वी., 62, 82
 त्रिभुवनराय, 38